C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MI
FE
824
20
Nepal Sanskrit University, Dang

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MI

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding
pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

हिन्दी 425
आ नं 260
आरक्षित हि
403

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kath

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

आदर्श निबंध

आ. सं. 2600

संपादक

जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम्. ए., डी. लिट्.

अध्यापक हिन्दी-विभाग

हिंदू विश्वविद्यालय, काशी

Chowkhamba Sanskrit Series
चौखम्बा संस्कृत सीरीज़,
P. O. Box 8, Banaras.

प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स

वाराणसी

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

प्रकाशक
नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स
चौक, वाराणसी

तृतीय संस्करण—सं० २०१५ वि०
मूल्य २)

मुद्रक—
श्री भोलायंत्रालय
८।१७७, खजुरी, वाराणसी कैण्ट।

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kath

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

दो शब्द

प्रस्तुत निबंधावली में विशिष्ट कृतिकारों की ही रचनाएँ रखी गई हैं और लेखकों का चुनाव ऐतिहासिक पद्धति पर किया गया है। जिन निबंधकारों का संग्रह किया गया है वे रचना के इस रूप के प्रतिनिधि हैं और उनकी कृतियों में निबंध के विविध गुण-धर्म यथास्थान मिल जाते हैं। सामान्यतः आधुनिक हिन्दी-साहित्य में इस विषय के लेखक कम हैं पर जो कुछ हैं वे अपने कर्म में प्रौढ़ हैं और अपने व्यक्तित्व की स्थापना में सर्वथा समर्थ हैं।

—जगन्नाथप्रसाद शर्मा

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

अनुक्रम

निबंध			१—१२
१	बातचीत	बालकृष्ण भट्ट	१
२	शिव-मूर्ति	प्रतापनारायण मिश्र	७
३	हिन्दोस्थान	बालमुकुन्द गुप्त	१७
४	दण्डदेव का आत्म-निवेदन	महावीरप्रसाद द्विवेदी	२६
५	परीक्षा	माधवप्रसाद मिश्र	३७
६	हमारे साहित्य की विशेषताएँ	श्यामसुन्दरदास	४२
७	आचरण की सभ्यता	पूर्ण सिंह	५०
८	कछुआ-धर्म	चन्द्रधर शर्मा गुलेरी	६५
९	कविता क्या है	रामचन्द्र शुक्ल	७१
१०	उच्चारण	केशवप्रसाद मिश्र	९३
११	संघर्ष	गुलाबराय	१०२
१२	अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा	राहुल सांकृत्यायन	१०८
१३	चक्करदार चोरी	पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	११९
१४	बहस की बात	सियारामशरण गुप्त	१३१
१५	राम-कथा	जैनेन्द्र कुमार	१३७
१६	जीने की कला	महादेवी वर्मा	१४६

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

निबन्ध

प्राचीनता और परम्परा के पुराने पुजारी प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध आदि युग से जोड़ने में व्यस्त रहते हैं। अपनी इसी रूढ़ि से प्रेरित हो कर भले ही वे लोग कहीं दर्शनकाल में निबन्ध-रचना का स्वरूप खोजते रहें और कहीं सिसरो एवं सेनेका की आध्यात्मिकता से आपूर्ण उपदेश-प्रधान गंभीर विचारधारा से वर्तमान निबन्धों का गठबन्धन करते रहें पर वस्तुतः इस रचना-प्रकार के स्वतन्त्र स्वरूप का आरम्भ फ्रान्सीसी लेखक मौन्टेन से ही सब मानने को बाध्य होते हैं। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु-काल से लेकर आज तक जिस प्रकार के निबन्धों का प्रचलन चला आ रहा है अथवा पाश्चात्य देशों में चार सौ वर्षों तक जो रचना इस नाम से अभिहित होती आ रही है उसमें और प्राचीन काल के कथित निबन्धों में स्वरूप, उद्देश्य एवं शैली के विचार से मौलिक अन्तर है। जिस प्रकार प्राचीन वैदिक आख्यायिका और वर्तमान कहानी में रचना-पद्धति का तात्विक वैषम्य पाने के कारण उसे एक देशीय स्वीकार करने में संकोच होता है उसी प्रकार की स्थिति निबन्ध-रचना के विषय में भी दिखाई पड़ती है।

निबन्ध-रचना की जो धारा हिन्दी में प्रवाहित मिलती है उसका सीधा सम्बन्ध उसी मूल स्रोत से है जिससे अङ्गरेजी साहित्य के निबन्धों का; अतएव उसका रचना-पद्धति विषयक विवेचना के लिए हमें पाश्चात्य समीक्षकों और कृतिकारों का ही मुँह देखना पड़ेगा; अवश्य ही हिन्दी में विशेषत्व विधायक अपनापन भी प्रतिष्ठित हुआ है।

चार सौ वर्षों की निबन्ध रचनाओं में प्रयुक्त अनेकानेक विभिन्न विषयों, उसकी भावभंगी, भाषा और शैली के सूक्ष्म अध्ययन के उपरान्त पाश्चात्य समीक्षकों ने देख लिया कि भिन्न-भिन्न काल और वर्ग के निबन्ध-लेखकों

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

की कृतियों और तद्विषयक उनके व्यक्तिगत सिद्धान्तों में अत्यधिक वैषम्य है। कहीं तो 'निबन्ध' (Essay) शब्द का प्रयोग ही अनिश्चित अर्थ में होता दिखाई पड़ा। The essay on man (पोप कृत्) को कविता में लिखा देखकर यह कहना भी कठिन हो गया कि निबन्ध गद्य ही में लिखा जा सकता है। तथाकथित कुछ रचनाओं* के विस्तार और गंभीर प्रतिपादन की वैज्ञानिक विशिष्टता को देखकर प्रश्न होने लगा कि ये पूर्ण ग्रन्थ हैं अथवा निबन्ध ? इस प्रकार के स्वरूप तथा प्रकृति के विषय में सर्वमान्य एकमत नहीं स्थापित हो पाता। इसी व्यापक विषमता से घबड़ा कर प्रतिष्ठित समीक्षक ह्यू वाकर भी सन्देह करने लगते हैं कि निबन्ध के नाम से न जाने क्या पढ़ने को मिले[१]। यह तो हुई शब्दार्थ की असंगति, इसके अतिरिक्त परम प्रतिष्ठित निबन्ध-लेखकों के अपने-अपने सिद्धान्तों में भी तात्विक मतभेद दिखाई पड़ता है; और यह मत-वैषम्य अत्यधिक स्पष्ट इसलिए हो उठा है कि मूल-पुरुषों के साथ उत्पन्न हो कर आज चार सौ वर्षों से निरन्तर जीवित चला आ रहा है। आरम्भ के दो प्रमुख कृतिकारों के उल्लेख से विषय का स्पष्टीकरण भली-भाँति हो जायगा।

प्रथम व्यक्ति जिसके समय से निबन्ध-रचना की परिपाटी अक्षुण्ण रूप से चली, फ्रांसीसी भाषा का लेखक माइकल् डी मोन्टेन् (ई० सन् १५३३-९२) था। उसके निबन्धों की जब दो पुस्तकें सन् १५८० में निकलीं तो उसने उन रचनाओं को Essay नाम से अभिहित किया। उसके वे निबंध सरल तथा व्यावहारिक विषयों पर हैं[२]। रचना की शैली भी

---

* 1. Lock's Essay on Human Understanding.
2. David Hume—A Treatise of Human Nature.
3. Herbert Spencer—Essay on Progress.

१ "............We have hardly the vaguest idea of what we shall find in a composition entitled an essay.
—Introduction : The English Essay and Essayists.

२ **जैसे**—On friendship, One man's gain is another's loss, On the manner of Dress, On fleas.

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

तरंगमयी, वैयक्तिक, अतीव व्यावहारिक एवं सरल है। अभिव्यंजना में गंभीरता न होकर आत्मीयता अधिक है। बुद्धि-विलास के स्थान पर अनुभूति की प्रधानता है। ये रचनाएँ लेखक के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल ही उतरी हैं। उसके विचार से निबंध स्मृति-छायाओं, उद्धरणों और कथात्मक इतिवृत्तों का पंचामृत होता है[१]। अपनी रचनाओं के विषय में उसने स्वयं स्वीकार किया है कि—ये मेरी अपनी स्वच्छन्द उड़ानें हैं, जिनमें मैं कुछ ढूँढ़ निकालने का दावा नहीं करता, केवल अपने को खोलकर रख देता हूँ[२]। इस प्रसंग में उसने अपने मन्तव्य को और भी स्पष्ट किया है जिसका अभिप्राय यों कहा जा सकता है—आत्माभिव्यक्ति ही मुख्य वस्तु है और निबंध-लेखक का प्रधान गुण यही होना भी चाहिए। लिखते समय जो व्यक्तित्व वह अपनाए, भले ही उसमें निजत्व उतना न हो पर हो वह अपने में पूर्ण। पाठक का ध्यान निबन्ध के विषय पर से सरक कर कृतिकार के व्यक्तित्व तक पहुँच सके। इस प्रकार के लेखक का रहस्य उसके सर्जनात्मक आत्मानुभूति में है।[३] उक्त उद्धरणों के आधार पर इतना तो स्पष्ट हो जाता

---

१. An essay is a medley of reflections, quotations and anecdotes.

२. These are fancies of my own, by which I do not pretend to discover things, but to ley open myslef.

३. It is to communicate personality...........
That is the character the perfect essayist requires. The personality with which he writes may not be entirely his own, but it must be a complete (not changeable) personality. 'The main interest is always shifted subtly from the subject of the essay to the kind of mind and being—the personality—which is writing the subject. Creative egotism is the secret of the essayist.

—Montaigne

The Enjoyment of Literature by Elizabeth Drew.

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

है कि मैन्टेन् विषय-पक्ष का प्राधान्य नहीं स्वीकार करता। उसका सारा ध्यान लेखक के व्यक्तित्व की ओर है। उसके अनुसार विषय किसी प्रकार का भी हो सकता है पर रचना में लेखक के अपनेपन की छाप अवश्य लगी रहनी चाहिए और उसकी अभिव्यंजना की रीति गंभीर न होकर आत्मीयता से आपूर्ण होनी आवश्यक है।

मैन्टेन् की मृत्यु के पाँच ही वर्ष उपरांत इङ्गलैण्ड में फैन्सिस बेकन् लार्ड व्हेरुलम् (ई० सन् १५६१-१६२६) ने सन् १५९७ में अपने दस निबन्धों का एक संग्रह निकाला और उसके उपरांत निरन्तर पचासों निबन्ध और लिखे, परन्तु उनकी रचनाओं के प्रतिपाद्य-प्रतिपादन की पद्धति सर्वथा भिन्न थी। उनके विषय न तो उतने साधारण और व्यावहारिक थे और न विषय उपस्थित करने की शैली ही सरल और आत्मीयता पूर्ण हो सकी। वहाँ तो सारा रूप ही कुछ निराले ढंग का दिखाई पड़ा—विषय गम्भीर, विवेचना गम्भीर, दृष्टान्त और अलंकार—सभी कुछ गम्भीर दिखाई पड़ा[1]। इसका प्रत्यक्ष कारण यह था कि लेखक के सिद्धान्त में ही मौलिक अन्तर था। उसके विचार से निबन्ध लघु विस्तार का होना चाहिए और उसमें सारभूत बुद्ध-वैभव रहना चाहिए; साथ ही विस्तार भी अधिक विस्तृत रूप में न प्रकट किए गए हों[2]। उनकी निबन्ध-रचनाएँ उनके अपने सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल थीं। इस सिद्धान्त-भेद के कारण स्वरूप में भेद होना नितान्त प्राकृतिक था।

बेकन् के निबन्धों में विषय-पक्ष ही की प्रधानता दिखाई पड़ती है।

---

१ जैसे—Of Death, Of Studies, Of Atheism, Of Unity, Of religion, Of Plantations, Of Usury, Of Empire, Of Seditions and Troubles, Of Friendship, Of Parents and Children, Of Marriage and Single Llfe, Of Love etc.

२ "An essay consists of a few pages of concentrated wisdom with little elaboration of the ideas expressed,"

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

वह स्वयं अनेक विषयों का पण्डित, नीतिमान, विचारशील और गम्भीर स्वभाव का था। अतएव मौन्टेन् की रचना के ढाँचे को तो उसने अपना लिया पर रंग उसपर चढ़ाया अपने बुद्धि-विचार का[१]। अपने अध्ययन के गाम्भीर्य की तुलना में वह निबंध रचना को अपने दिल-बहलाव का विषय मानता था और उसे चिंतन-मुक्ति (dispursed meditation) कहा करता था। इसीलिए उसके निबंधों में ऐसा दिखाई पड़ता है कि कोई बुद्धि-व्यवसायी मानवता की ऊँची भूमिका पर बैठकर नीचे पड़े हुए लोगों को अपने बुद्धि-वैभव से चमत्कृत करता हुआ उनके सम्पूर्ण आचरण, व्यवहार तथा विचार को नियंत्रित कर रहा है। यह साहित्यिक वितर्क बेकन को मौन्टेन से सर्वथा पृथक् कर देता है।

उक्त दो समकालीन प्रमुख निबंध-लेखकों की विशेषताओं का इस प्रकार तारतमिक उद्घाटन करने का अभिप्राय इतना ही था कि यह स्पष्ट हो जाय की इस रचना-प्रकार के मूल उद्गम से ही उसके स्वरूप और सिद्धान्त के विषय में मतभेद आरम्भ हो गया था। आगे चलकर वेदांतियों का ब्रह्म बनकर यह निबन्ध कहीं साकार और कहीं निराकार बना फिरने लगा। जितने लेखक हुए उतनी व्याख्याएँ दिखाई पड़ने लगीं। एक-दूसरे के कथन में इतना वैषम्य मिलने लगा कि निश्चय करना कठिन हो गया कि वस्तुतः निबंध क्या वस्तु है और उसके स्वरूप की क्या प्रमुख भेदकता है। इसकी रूपरेखा के विषय में स्वयं निबन्ध-लेखकों[२] में बड़ा

---

१ "Bacon therfore takes the form from Montaigne, but fills it with material drawn from his own mind.
—The English Essay and Essayists (1934) P. 16

२ (i) "In an essay the thought is thin and diluted and the tendency is now towards light didactism and now towards personal gossip." —Addison.
(ii) "An essay is a loose sally of the mind, an irregular undigested piece not a regular and orderly composition." Johnson.
The Study of Literature by Hudsou W. H. P. 443.

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

भिन्नत्व चलता रहा। फिर तो अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग चल निकला। समय-समय पर लोग इसके महत्व का भी खण्डन करने लगे। कुछ विचारक कहने लगे कि निबंध-रचना का इतना प्रचलन इसलिए है कि यह उन लेखकों के अनुकूल है जिसमें न तो प्रतिभा है और न विषय के अधिक छानबीन करने का मन। साथ ही उन पाठकों को भी यह प्रिय मालूम पड़ता जो भिन्न-भिन्न प्रकार के खेलवाड़ों से दिलबहलाव करना चाहते हैं[१]।

जहाँ एक ओर निबंध-रचना की बढ़ती देख क्रैब साहब ऐसा आक्षेप करने लगे वहीं दूसरी ओर सेन्ट वीभ् ऐसे विचारशील उक्त कथन का खण्डन करने लगे। इनका विचार था कि यह साहित्यिक अभिव्यंजना का आनन्ददायक पर अत्यधिक कठिन रूप है क्योंकि इसे वे गागर में सागर भरना समझते थे। उनका विचार था कि थोड़े में किसी विषय को कहने का यह तात्पर्य नहीं होता कि उसमें हलकापन अथवा चलतापन दिखाई पड़ने लगे। विश्वास के साथ वे स्वीकार करते थे कि सफल निबंधों की विशेषता इसमें है कि लेखक अपने विषय का पण्डित हो[२]। इस प्रकार

---

१ The Essay is most popular mode of writing because it suits the writer who has neither talent nor inclination to pursue his inquiries farther and the generality of readers who are amused with variety and superficiality," —Crabbe, वही पृ० ४४४

२ "Saint Beuve, on the other hand, held it to be one of the most difficult, as well as delightful, forms of literary expression, because for him it implied the power of condensation, or saving much in little...... He would not admit that brevity entails superficiality. He believed rather that a good essay should be characterised by that combination of conciseness and thoroughness which is possible only when a man is absolutely master of his subject.

वही पृ० ४४५

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

यदि एक अलोचक कुछ आक्षेप करता है तो दूसरा तुरन्त उसके कथन का विरोध करता दिखाई पड़ता है। किसी विषय में सहमति के दर्शन नहीं होते! इसलिए निबंध-रचना में विषय, उद्देश्य और शैली के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं। अतः विद्वान् समीक्षकों का यह कथन सर्वथा उचित ही है कि रचना के इस प्रकार भेद का स्वरूप रबर की भाँति इतना बढ़ता-घटता है कि निश्चयपूर्वक उसके स्वरूप का वर्णन प्रायः असम्भव है[१]।

इतना होने पर भी कुछ विचारकों ने विभिन्न प्रकार के निबंधों का सूक्ष्म अध्ययन करके उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं का स्वरूप समझा है और उनके आधार पर परिभाषा निश्चित करने का प्रयास किया है। ह्यू वाकर के विचार से आदर्श निबंध में हलकापन और सरलता रहती है और पाठक तथा लेखक के बीच विश्वास-पूर्ण मैत्रीभाव दिखाई पड़ता है[२]। मैरियट महाशय का कथन है कि सच्चे निबंध में सरल और व्यक्तिगत ढंग से विचार-दर्शन रहता है[३]। ऑक्सफोर्ड इङ्गलिश डिक्शनरी की परिभाषा कुछ

---

१ (i) It is difficult, if not impossible, to glve a precise definition of an essay. The word itself, 'essay' or 'attempt', reveals how incomplete an art form it is. In their collection the term has been interpreted widely to cover the review. the leading article, the formal gossip, the pamphlet, the treatise and the biographical sketch. Preface—English Essay of Today (Ninth Impression 1951.)

(ii) The Study of Literature by Soares A.X. पृ० ११६

२ "The ideal essay seems to imply a certain lightness and ease and a confidential relation between the author and the reader", The English Essay and Essayists by Hugh Walker, पृ० २०

३ "The genuine essay is a kind of disquisition hand led in a light-hearted and personal manner",

—Marriot J. W.

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

अधिक स्पष्ट है। उसके अनुसार यह लघु विस्तार की रचना होती है। इसमें विषय विशेष अथवा उसके किसी अंग पर लिखा जाता है और मूलतः पूर्णत्व का अभाव रहता है। इसमें विषय को सुसंबद्ध एवं परिपक्व बनाने की भी चेष्टा नहीं की जाती। आजकल न्यूनाधिक इसकी शैली पूर्ण होती जा रही है पर विस्तार परिमित ही रखा जाता है[१]। आगे चलकर वर्सफोल्ड ने उक्त कई विशेषताओं में सम्बन्ध स्थापित कर एक पूर्ण परिभाषा बनाने की चेष्टा की है; उनकी अर्थ-व्याप्ति सुस्पष्ट है। उनका अभिप्राय है कि निबंध का परिचय उसके बाह्यरूप के लघुत्व में मिलता है और उसमें लेखक का आत्माभिव्यञ्जन वर्तमान रहता है। विषय के विवेचन का कोई एक केन्द्र होता है। इसमें कृतिकार की व्यक्तिगत रुचि-अरुचि जितना महत्वपूर्ण रूप धारण करती है उतना उसी विषय पर लिखे गए सुसंबद्ध और पूर्ण ग्रन्थ में नहीं[२]।

स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल[३] ने केवल एक विशेषता को प्राधान्य दिया है। उनके विचार से 'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो'।

---

१ "Essay is a composition of moderate length on any particular subject or branch of a subject, originally implying want of finish, 'an irregular, undigested piece', but now said of a composition more or less elaborate in style though limited in range

—The Oxford English Dictionary.

२ "The essay is distinguished by the brevity of its external form and by the presence of the element of reflection. It treats a subject from a single point of view, and permits the personal characteristics of the writer to assume a greater prominence than is permitted in the regular and complete treatment of the same subject in a treatise or book".

—Judgement in Literature by Worsfold.

३ हिंदी साहित्य का इतिहास (नवीन संस्करण) पृ० ६०५-६

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

'अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये संबंध-सूत्र एक-दूसरे से नथे हुए, पत्ते के भीतर की नसों के समान चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्व-चिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ संबंध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के व्यौरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंधी सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है। तत्वचिंतक या वैज्ञानिक से निबंध लेखक की भिन्नता इस बात में भी है कि निबंध-लेखक जिधर चलता है उधर अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ता के साथ, अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए।'

अंत में उक्त समीक्षकों द्वारा निर्धारित निबन्ध की रूपरेखा का यदि विश्लेषण करके एक व्यापक और समुचित परिभाषा उपस्थित की जाय तो यों कहा जा सकता है—**तर्क और पूर्णता का अधिक विचार न रखनेवाला गद्य रचना का वह प्रकार निबंध कहलाता है जिस में किसी विषय अथवा विषयांश का लघु विस्तार में स्वच्छन्दता एवं आत्मीयतापूर्ण ढंग से ऐसा कथन हो कि उसमें लेखक का व्यक्तित्व झलक उठे।** निबंध का यह लक्ष्य अन्य प्रकार की रचनाओं में सिद्ध नहीं हो सकता। यही इसकी सबसे बडी साहित्यिक उपादेयता है और यही कारण है जिससे सभी भाषाओं में इसका इतना प्रचलन और पठन-पाठन वृद्धि पा सका है।

अभी तक निबध के स्वरूप पर परिचयात्मक चिंतन होता रहा और

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

उसकी व्यावहारिक परिभाषा का प्रयास किया गया । अब उसके उन मूलगत गुणों का कथन रह गया है जिनके कारण अथवा उपस्थिति से निबंध-संज्ञा का बोध होता है । गुणों के विचार से निबंध में 'संक्षेप' का रहना नितांत आवश्यक है । तभी यह सम्भव हो सकता है कि एकरस होकर या तो विषय का बोध हो अथवा लेखक के हृदय का दर्शन । अतिरिक्तविस्तार में जो निरर्थक पल्लवन होता है उसके कारण ध्यान स्थिर नहीं होने पाता । संक्षेप के साथ प्रतिपादन की 'पद्धति' में भी सौकर्य और चलतापन होना चाहिए; गम्भीरता और भारीपन बचाया जाय अन्यथा सुखकर प्रवाह में अवरोध पड़ जाता है । दूसरी बात यह है कि विषय को सर्वांगीण 'पूर्ण' बनाने की प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न होनी चाहिए ! किसी विषय के कई पक्ष अथवा अंग हो सकते हैं पर निबंध लेखक का यह प्रयत्न नहीं होना चाहिए कि समस्त अंगों पर ऐसा कुछ लिख दिया जाय कि कुछ बचे ही नहीं । यदि ऐसा होगा तो लम्बे-लम्बे प्रबंधों और ग्रन्थों में तथा निबंध में कोई अन्तर नहीं रह जायगा । ऐसी अवस्था में किसी विषय का निवेदन या तो लघु विस्तार में रखा जाय अथवा उसके किसी अंग विशेष के कुछ संबंध-सूत्रों को पकड़कर चला जाय । इसका तात्पर्य यह नहीं मानना चाहिए कि आंगिक होने के कारण विषय अधूरा और असम्बद्ध रह जायगा । जिस पक्ष को लिया जाय वह अपनी सीमा तक अवश्य स्पष्ट, सुसम्बद्ध एवं पूर्ण हो । इसके अतिरिक्त जिन स्थलों पर विशेष प्रभाव उत्पन्न करना हो उनके चुनाव और 'उतार-चढ़ाव' में लेखक को निपुणता दिखानी चाहिए । इस क्रिया में निबंधकार नाटककार के बहुत अधिक समीप आ जाता है ।

अन्य रचनाओं में लेखक शास्त्रीय विधान का जितना प्रतिबन्ध अनुभव करता है उतना निबंध में नहीं । यहाँ 'स्वच्छन्दतापूर्वक' वह अपने 'मन की तरंग' को उच्छ्वसित कर सकता है । उसे बात इस ढंग से कहनी चाहिए कि पाठक और लेखक की भिन्नता दूर हो और दोनों के बीच एक प्रकार की साहित्यिक 'आत्मीयता' स्थापित हो जाय । यह नहीं कि लेखक अपने

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

को विशिष्ट, तटस्थ तथा उच्चस्तर पर रख ले और उपदेशक, संदेशवाहक एवं निर्णायक की भाँति वेद-वाक्यों का प्रयोग करने लगे। इस आत्मीयता के द्वारा ही अपने व्यक्तित्व का दर्शन दे सकता है। विषय की चुनावट या सजावट में उसकी 'रुचि-अरुचि' झलकनी चाहिए। थोड़े में यों कहा जा सकता है कि निबन्ध लेखक के रंग में रँगा होना चाहिए। उक्त गुणों के आधार पर यह देखने का प्रयास करना चाहिए कि किसी निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व कहाँ तक उभड़ सका है; उसके विचार-सूत्र तथा सहृदयता किस कोटि की है, उसके विचारों की निर्मिति और विकास किस समय से हुआ है; रचना के विषय अथवा विषयांश के प्रतिपादन की पद्धति कैसी है और प्रारम्भ, अनुक्रम एवं निष्कर्ष की कैसी व्यवस्था है। इन प्रश्नों का उत्तर पाकर ही किसी निबन्ध के गुण-अवगुण की पूरी परीक्षा की जा सकती है।

गुणों का उल्लेख हो जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि निबन्ध मुख्यतया दो प्रकार के हो सकते हैं— विषयप्रधान अथवा विचारात्मक और विषयिप्रधान अथवा भावात्मक। प्रथम प्रकार के निबन्ध में विषय तो संक्षिप्त और परिमित रहेगा ही पर रचना की पद्धति विवेचना संपृक्त होनी चाहिए और विषय गम्भीर ढंग से चिंतन परक, ऐतिहासिक अथवा विवरणात्मक बनाए गए हों। ऐसे निबन्धों का लक्ष्य होता है विषय का बोध कराना। लेखक तथा पाठक का सारा आकर्षण वस्तु-पक्ष पर अवलम्बित रहता है। इसी प्रकार की रचना बड़े-बड़े प्रबन्धों से संयुक्त होकर ग्रन्थ का रूप साधारण कर सकती है। ऐसे निबन्धों को विषय-प्रधान कहा जायगा।

शैली और विषय-निवेदन की प्रकृति का विचार करने से इसके विरुद्ध विषयि-प्रधान निबन्ध होते हैं; जिसमें कृतिकार की अभिरुचि आत्माभिव्यंजन की ओर रहनी चाहिए। इसमें लेखक की सारी विचार-धारा अपने व्यक्तित्व-प्रकाशन की ओर लगी रहती है। लेखक के तत्पर हृदय पर पड़े हुए विषय का प्रभाव ही इसमें व्यक्त होता है। लक्ष्य यह रहता है कि वस्तु-विस्तार भले ही परिमित हो पर उसके ऊपर लेखक का

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

रंग चढ़ जाय और निबन्ध की रचना लेखक की व्यक्तिगत भावना से समन्वित हो। यों तो रचना के विषय अनेकानेक हो सकते हैं पर उसकी स्वीकृति लेखक के विचार, मनःस्थिति और व्यक्तित्व के अनुकूल होनी चाहिए। हिन्दी में सरदार पूर्णसिंह और पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह की रचनाएँ इसी वर्ग में स्थान पा सकती हैं। निबंध का यह प्रकार बढ़कर वृहदाकार प्रबंध अथवा ग्रन्थ नहीं बनाया जा सकता। लघुविस्तार होने पर भी यह अपने ही में पूर्ण होता है।

साहित्यिक अभिव्यंजना के विचार से इस कोटि के निबंध प्रगीतात्मक कविताओं से मिलते-जुलते होते हैं। ऐसी कविताओं में जैसे एक विशेष प्रकार की मनःस्थिति काम करती है वैसे ही इस प्रकार के निबंध में भी मन की कोई तरंग आवश्यक रहती है। इस विचार से लेखक की मानसिक स्थिति ही सब कुछ है। मन किसी विशेष स्थिति में पहुँचा और आदि से अन्त तक निबन्ध उसी के चारों ओर रच जाता है।*

मनःस्थिति के भेद से निबंध के और भी भेद हो सकते हैं—उपदेशात्मक, वर्णनात्मक इत्यादि। आजकल जो रेखा-चित्र लिखे जाते हैं उनकी प्रकृति मूलतः विषयि प्रधान होती है और ऐतिहासिक निबंध भी उसी वर्ग में स्थान पायेंगे जब तक कि वे शुद्ध इतिहास की पद्धति पर नहीं गए हैं। इसी ढंग से उक्त सिद्धान्तों के आधार पर अन्य प्रकार के निबंधों का भी वर्गीकरण होना चाहिए।

औरङ्गाबाद, काशी।
२०-१-५२

—जगन्नाथप्रसाद शर्मा

* "The essay as a literary form resembles the lyric in so far as it is moulded by some central mood—Whimsical, serious or satirical. Give the mood, and the essay from the first sentence to the last grows around it, as the cocoon grows round the silkworm"

—Alexander Smith—On the Writing of Essay.

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

बातचीत

बालकृष्ण भट्ट

(सन् १८४४-१९१४)

इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि अनेक प्रकार की शक्तियाँ जो वरदान की भाँति ईश्वर ने मनुष्यों को दी हैं उनमें वाक्शक्ति भी एक है। यदि मनुष्य की और-और इन्द्रियाँ अपनी-अपनी शक्तियों से अविकल रहतीं और वाक्शक्ति मनुष्यों में न होती तो हम नहीं जानते कि इस गूँगी सृष्टि का क्या हाल होता। सब लोग लुञ्ज पुंज से हो मानों कोने में बैठा दिये गये होते और जो कुछ सुख-दुःख का अनुभव हम अपनी दूसरी-दूसरी इन्द्रियों के द्वारा करते उसे अवाक् होने के कारण आपस में एक दूसरे से कुछ न कह-सुन सकते। इस वाक्शक्ति के अनेक फायदों में "स्पीच" वक्तृता और बातचीत दोनों हैं। किन्तु स्पीच से बातचीत का ढंग निराला है। बातचीत में वक्ता को नाज-नखरा जाहिर करने का मौका नहीं दिया जाता कि वह बड़े अन्दाज से गिन गिन कर पाँव रखता हुआ पुलपिट पर जा खड़ा हो और पुण्याहवाचन या नांदीपाठ की भाँति घड़ियों तक साहबान मजलिस, चेयरमैन, लेडीज ऐंड जेंटिलमेन की बहुत सी स्तुति करे-करावे और तब किसी तरह वक्तृता का आरम्भ करे। जहाँ कोई मर्म या नोक की चुटीली बात वक्ता महाशय के मुख से निकली कि तालिध्वनि से कमरा गूँज उठा। इसलिए वक्ता को खामखाह ढूँढ़कर कोई ऐसा मौका अपनी वक्तृता में लाना ही पड़ता है जिसमें करतलध्वनि अवश्य हो।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

वही हमारी साधारण बातचीत का कुछ ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौका है न लोगों को कहकहे उड़ाने की बात उसमें रहती है। हम दो आदमी प्रेम-पूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई हँस पड़े। मुसकराहट से ओठों का केवल फड़क उठना ही इस हँसी की अन्तिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुनने वालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।

जहाँ आदमी को अपनी जिंदगी मजेदार बनाने के लिए खाने, पीने, चलने, फिरने आदि की जरूरत है वहाँ बातचीत की भी उसको अत्यन्त आवश्यकता है। जो कुछ मवाद या धुवाँ जमा रहता है वह बातचीत के जरिये भाप बन बाहर निकल पड़ता है। चित्त हलका और स्वच्छ हो परम आनन्द में मग्न हो जाता है। बातचीत का भी एक खास तरह का मजा होता है। जिनको बातचीत करने की लत पड़ जाती है वे इसके पीछे खाना-पीना भी छोड़ बैठते हैं। अपना बड़ा हर्ज कर देना उन्हें पसन्द आता है पर वे बातचीत का मजा नहीं खोना चाहते। राबिंसन क्रूसो का किस्सा बहुधा लोगों ने पढ़ा होगा जिसे १६ वर्ष तक मनुष्य का मुख देखने को भी नहीं मिला। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों के बीच में रह १६ वर्ष के उपरांत उसने फ्राइडे के मुख से एक बात सुनी। यद्यपि इसने अपनी जंगली बोली में कहा था पर उस समय राबिंसन को ऐसा आनन्द हुआ मानों इसने नये सिरे से फिर आदमी का चोला पाया। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य की वाक्-शक्ति में कहाँ तक लुभा लेने की ताकत है। जिनसे केवल पत्र-व्यवहार है, कभी एकबार भी साक्षात्कार नहीं हुआ उन्हें अपने प्रेमी से बात करने की कितनी लालसा रहती है। अपना आभ्यंतरिक भाव दूसरे पर प्रगट करना और उसका आशय आप ग्रहण कर लेना केवल शब्द के ही द्वारा हो सकता है। सच है, जब तक मनुष्य बोलता नहीं तब तक उसका गुण-

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

दोष प्रगट नहीं होता। बेन जानसन का यह कहना, कि बोलने से ही मनुष्य के रूप का साक्षात्कार होता है, बहुत ही उचित जान पड़ता है।

इस बातचीत की सीमा दो से ले कर वहाँ तक रखी जा सकती है जहाँ तक उनकी जमात मीटिंग या सभा न समझ ली जाय। एडिसन का मत है कि असल बातचीत सिर्फ दो व्यक्तियों में हो सकती है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जब दो आदमी होते हैं तभी अपना दिल एक दूसरे के सामने खोलते हैं। जब तीन हुए तब वह दो की बात कोसों दूर गई। कहा भी है कि छः कानों में पड़ी बात खुल जाती है। दूसरे यह कि किसी तीसरे आदमी के आ जाते ही या तो वे दोनों अपनी बातचीत से निरस्त हो बैठेंगे या उसे निपट मूर्ख अज्ञानी समझ बनाने लगेंगे।

जैसे गरम दूध और ठंढे पानी के दो बरतन पास साँट के रखे जायँ तो एक का असर दूसरे में पहुँचता है अर्थात् दूध ठंढा हो जाता है और पानी गरम, वैसे ही दो आदमी पास बैठे हों तो एक का गुप्त असर दूसरे पर पहुँच जाता है चाहे एक दूसरे को देखें भी नहीं, तब बोलने की कौन कहे। एक के शरीर की विद्युत् दूसरे में प्रवेश करने लगती है। जब पास बैठने का इतना असर होता है तब बातचीत में कितना अधिक असर होगा इसे कौन न स्वीकार करेगा। अस्तु, अब इस बात को तीन आदमियों के साथ में देखना चाहिए। मानों एक से त्रिकोण सा बन जाता है। तीनों चित्त मानों तीन कोण हैं और तीनों की मनोवृत्ति के प्रसरण की धारा मानों उस त्रिकोण की तीन रेखाएँ हैं। गुप-चुप असर तो उन तीनों में परस्पर होता ही है। जो बातचीत तीनों में की गई वह मानों अँगूठी में नग सी जड़ जाती है। उपरांत जब चार आदमी हुए तब बेतकल्लुफी को बिलकुल स्थान नहीं रहता। खुल के बातें न होंगी। जो कुछ बातचीत की जायगी वह "फार्मेलिटी", गौरव और संजीदगी के लच्छे में सनी हुई होगी। चार से अधिक की बातचीत तो केवल रामरमौवल कहलावेगी। उसे हम संलाप नहीं कह सकते। इस बातचीत के अनेक भेद हैं। दो बुड्ढों की बातचीत

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

प्रायः जमाने की शिकायत पर हुआ करती है। वे बाबा आदम के समय का ऐसा दास्तान शुरू करते हैं जिसमें चार सच तो दस झूठ। एक बार उनकी बातचीत का घोड़ा छूट जाना चाहिए, पहरों बीत जाने पर भी अन्त न होगा। प्रायः अंगरेजी राज्य, परदेश और पुराने समय की बुरी रीतिनीति का अनुमोदन और इस समय के बस भाँति लायक नौजवानों की निंदा उनकी बातचीत का मुख्य प्रकरण होगा। पढ़े-लिखे हुए तो शेक्सपियर, मिलटन, मिल और स्पेंसर उनकी जीभ के आगे नाचा करेंगे। अपनी लियाकत के नशे में चूर-चूर 'हमचुनी दीगरे नेस्त'। अक्खड़पन की चर्चा छोड़ेंगे। दो हम सहेलियों की बातचीत का कुछ जायका ही निराला है। रस कास मुद्र मानों उमड़ा चला आ रहा है। इसका पूरा स्वाद उन्हीं से पूछना चाहिए जिन्हें ऐसों की रससनी बातें सुनने को कभी भाग्य लड़ा है।

दो बुढ़ियों की बातचीत का मुख्य प्रकरण बहू-बेटीवाली हुई तो अपनी बहुओं या बेटों का गिला शिकवा होगा या बिरादराने का कोई ऐसा रामरसरा छेड़ बैठेंगी कि बात करते-करते अन्त में खोंढ़े दाँत निकाल लड़ने लगेंगी। लड़कों की बातचीत, खिलाड़ी हुए तो, अपनी-अपनी तारीफ करने के बाद वे कोई सलाह गाठेंगे जिसमें उनको अपनी शैतानी जाहिर करने का पूरा मौका मिले। स्कूल के लड़कों की बात का उद्देश्य अपने उस्ताद की शिकायत या तारीफ या अपने सहपाठियों में किसी के गुन अवगुन का कथोपकथन होता है। पढ़ने में कोई लड़का तेज हुआ तो कभी अपने सामने दूसरे को कुछ न गिनेगा। सुस्त और बोदा हुआ तो दबी बिल्ली का सा स्कूल भर को अपना गुरू ही मानेगा। इसके अलावा बातचीत की और बहुत सी किस्में हैं। राज-काज की बात, व्यापार-संबन्धी बातचीत, दो मित्रों में प्रेमालाप इत्यादि। हमारे देश में नीच जाति के लोगों में बतकही होती है। लड़की-लड़केवाले की ओर से एक-एक आदमी बिचवई होकर दोनों के विवाह-सम्बन्ध की कुछ बातचीत करते हैं। उ

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

दिन से बिरादरीवालों को जाहिर कर दिया जाता है कि अमुक की लड़की का अमुक के लड़के के साथ विवाह पक्का हो गया और यह रसम बड़े उत्सव के साथ की जाती है। चंडूखाने की बातचीत भी निराली होती है। निदान बात करने के अनेक प्रकार और ढंग हैं।

यूरप के लोगों में बात करने का हुनर है। "आर्ट आफ कनवरसेशन" यहाँ तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते। इसकी पूर्ण शोभा काव्य कला-प्रवीण विद्वन्मंडली में है। ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हें सुन कान को अत्यंत सुख मिलता है। सुहृद्-गोष्ठी इसी का नाम है। सुहृद्-गोष्ठी की बातचीत की यह तारीफ है कि बात करने वालों की लियाक़त अथवा पंडिताई का अभिमान या कपट कहीं एक बात में न प्रगट हो वरन् क्रम रसाभास पैदा करने वाले सभों को बरकते हुए चतुर सयाने अपनी बातचीत को अक्रम रखते हैं। वह हमारे आधुनिक शुष्क पंडितों की बातचीत में, जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, कभी आवेगा ही नहीं। मुर्ग और बटेर की लड़ाइयों की झपटाझपटी के समान जिनकी नीरस काँव-काँव में सरस संलाप की तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है, वरन् कपट और एक दूसरे को अपने पांडित्य के प्रकाश से बाद में परास्त करने का संघर्ष आदि रसाभास की सामग्री वहाँ बहुतायत के साथ आपको मिलेगी। घंटे भर तक काँव-काँव करते रहेंगे तो कुछ न होगा। बड़ी-बड़ी कम्पनी और कारखाने आदि बड़े से बड़े काम इसी तरह पहले दो चार दिली दोस्तों की बातचीत से ही शुरू किये गये। उपरांत बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़े कि हजारों मनुष्यों की उससे जीविका चलने लगी और साल में लाखों की आमदनी होने लगी। पचीस वर्ष के ऊपर वालों की बातचीत अवश्य ही कुछ न कुछ सारगर्भित होगी, अनुभव और दूरंदेशी से खाली न होगी और पचीस से नीचे की बातचीत में यद्यपि अनुभव, दूरदर्शिता और गौरव नहीं पाया जाता पर इसमें एक प्रकार का ऐसा दिलबहलाव और ताजगी रहती है जिसकी मिठास उससे दसगुना चढ़ी-बढ़ी है।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा है जिसमें दूसरे फरीक के होने की बहुत आवश्यकता है, बिना किसी दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह संभव नहीं है और जो दो ही तरह पर हो सकती है—या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमी जाकर दूसरे को कृतार्थ करें। पर यह सब तो दुनिया-दारी है जिसमें कभी-कभी रसाभास होते देर नहीं लगती क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारें उनकी पूरी दिलजोई न हो सकी तो शिष्टाचार में त्रुटि हुई। अगर हमी उनके यहाँ गये तो पहले तो बिना बुलाये जाना ही अनादर का मूल है और जाने पर अपने मन माफिक बर्ताव न किया गया तो मानों एक दूसरे प्रकार का नया घाव हुआ। इसलिए सबसे उत्तम प्रकार बातचीत करने का हम यही समझते हैं कि हम वह शक्ति अपने में पैदा कर सकें कि अपने आप बात कर लिया करें। हमारी भीतरी मनोवृत्ति जो प्रतिक्षण नये-नये रंग दिखाया करती है, वह प्रपंचात्मक संसार का एक बड़ा भारी आईना है, जिसमें जैसी चाहो वैसी सूरत देख लेना कुछ दुर्घट बात नहीं है और जो एक ऐसा चमनिस्तान है जिसमें हर क़िस्म के बेल बूटे खिले हुए हैं। ऐसे चमनिस्तान की सैर में क्या कम दिलबहलाव है? मित्रों का प्रेमालाप कभी इसकी सोलवी कला तक भी न पहुँच सका। इसी सैर का नाम ध्यान या मनोयोग या चित्त को एकाग्र करना है जिसका साधन एक दो दिन का काम नहीं, बरसों के अभ्यास के उपरांत यदि हम थोड़ी भी अपनी मनोवृत्ति स्थिर कर अवाक् हो अपने मन के साथ बातचीत कर सकें तो मानों अहोभाग्य। एक वाक्शक्तिमात्र के दमन से न जानिए कितने प्रकार का दमन हो गया। हमारी जिह्वा कतरनी के समान सदा स्वच्छंद चला करती है, उसे यदि हमने दबाकर काबू में कर लिया तो क्रोधादिक बड़े-बड़े **अजेय शत्रुओं को** बिना प्रयास जीत अपने वश में कर डाला। इसलिए अवाक् **अपने आप** बातचीत करने का यह साधन यावत् साधनों का मूल है, शान्ति का परम पूज्य मन्दिर है, परमार्थ का एक मात्र सोपान है।

———

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

शिव मूर्ति

प्रतापनारायण मिश्र

(सन् १८५६-१८९४)

हमारे ग्रामदेव भगवान भूतनाथ सब प्रकार से अकथ्य अप्रतर्क्य एवं अचिन्त्य हैं। तौ भी उनके भक्त-जन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य हैं, अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य है। मनुष्य की भाँति वे नाड़ी आदि बंधन से बद्ध नहीं हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं और प्रेम-दृष्टि से अपने हृदय-मन्दिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथा-तथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता। तौ भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनः शांति कारक सत्य है !!! महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अंधों के आगे हाथी आवै और कोई उसका नाम बता दे, तो सब उसे टटोलेंगे ! यह तो संभव नहीं है कि मनुष्य बालक की भाँति उसे गोद में ले के सब कोई अवयव का ठीक-ठीक बोध कर ले। केवल एक अंग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलने वाला हाथी को खूँटी के समान, कान छूने वाला सूप के समान, पाँव स्पर्श करने वाला खंभे के समान कहेगा, यद्यपि हाथी न खूँटे के समान है न खंभे के। पर कहने वालों की बात झूठी भी नहीं है। उसने भली भाँति निश्चय किया है और वास्तव में

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

हाथी का एक-एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं ।ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। हम पूरा-पूरा वर्णन व पूरा साक्षात कर लें तो वह अनंत कैसे और यदि निरा अनन्त मान के अपने मन और वचन को उनकी ओर से बिल्कुल फेर लें तो हम आस्तिक कैसे। सिद्धान्त यह कि हमारी बुद्धि जहाँ तक है वहाँ तक उनकी स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शांति लाभ करेंगे।

उसके साथ जिस प्रकार का जितना सम्बन्ध हम रख सकें उतना ही हमारा मन बुद्धि शरीर संसार परमारथ के लिये मंगल है। जो लोग केवल जगत् के दिखाने को वा सामाजिक नियम निभाने को इस विषय में कुछ करते हैं उनसे तो हमारी यही विनय है कि व्यर्थ समय न बितावैं। जितनी देर पूजा पाठ करते हैं, जितनी देर माला सरकाते हैं उतनी देर कमाने-खाने, पढ़ने-गुनने में ध्यान दें तो भला है ! और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक हैं वे भी व्यर्थ ईश्वर को अपना पिता बना के निज माता को कलंक लगाते हैं। माता कह के बिचारे जनक को दोषी ठहराते हैं, साकार कल्पना करके व्यापकता का और निराकार कह के अस्तित्व का लोप करते हैं। हमारा यह लेख केवल उनके विनोदार्थ है जो अपनी विचार शक्ति को काम में लाते हैं और ईश्वर के साथ जीवित सम्बन्ध रख के हृदय में आनन्द पाते हैं, तथा आप लाभकारक बातों को समझ के दूसरों को समझाते हैं ! प्रिय पाठक उसकी सभी बातें अनन्त हैं। तौ मूर्तियाँ भी अनन्त प्रकार से बन सकती हैं और एक-एक स्वरूप में अनन्त उपदेश प्राप्त हो सकते हैं। पर हमारी बुद्धि अनन्त नहीं है, इससे कुछ-एक प्रकार की मूर्तियों का कुछ कुछ अर्थ लिखते हैं।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है जिसका प्रयोजन यह है कि उनसे हमारा दृढ़ सम्बन्ध है। दृढ़ वस्तुओं की उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नींव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है। ऐसा नहीं कि सहज में और का और हो जाय। इसमें बड़ा सुभीता यह भी है

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

कि एक बार बनवा के रख ली, कई पीढ़ी को छुट्टी हुई। चाहे जैसे असावधान पूजक आवें कोई हानि नहीं हो सकती है। धातु की मूर्ति से यह अर्थ है कि हमारा स्वामी द्रवणशील अर्थात् दयामय है। जहाँ हमारे हृदय में प्रेमाग्नि धधकी वहीं हमारा प्रभु हम पर पिघल उठा। यदि हम सच्चे तदीय हैं तो वह हमारी दशा के अनुसार बर्तेंगे यह नहीं कि उन्हें अपना नियम पालने से काम। हम चाहे मरें चाहे जियें। रत्नमयी मूर्ति से यह भाव है कि हमारा ईश्वरीय सम्बन्ध अमूल्य है। जैसे पन्ना पुखराज की मूर्ति बिना एक गृहस्थी भर का धन लगाये नहीं हाथ आती। यह बड़े ही अमीर का साध्य है। वैसे ही प्रेममय परमात्मा भी हम को तभी मिलेंगे जब हम अपने ज्ञान का अभिमान खो दें। यह भी बड़े ही मनुष्य का काम है! मृतिका की मूर्ति का यह अर्थ है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर सकते हैं। जैसे मिट्टी और जल का अभाव कहीं नहीं है, वैसे ही ईश्वर का वियोग कहीं नहीं है। धन और गुण का ईश्वर प्राप्ति में कुछ काम नहीं। वह निरधन के धन हैं। 'हुनर मन्दों से पूछे जाते हैं बाबें हुनर पहिले'। या यों समझ लो कि सब पदार्थ आदि और अन्त में ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर ही में लय होते हैं इस बात से दृष्टान्त मट्टी से खूब घटता है। गोबर की मूर्ति यह सिखाती है कि ईश्वर आत्मिक रोगों का नाशक है, हृदय-मन्दिर की कुवासना रूपी दुरगन्ध को हरता है। पारे की मूर्ति में यह भाव है कि प्रेमदेव हमारे पुष्टि कारक 'सुगन्धं पुष्टि वर्द्धनं' यह मूर्ति बनाने वा बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथ्वी और जल आदि की अष्ठ मूर्ति बनी बनाई पूजा के लिये विद्यमान हैं।

वास्तविक प्रेम-मूर्ति मनोमन्दिर में विराजमान है। पर यह दृश्य-मूर्तियाँ भी निरर्थक नहीं हैं। इनके कल्पनाकारी मूर्ति निन्दकों से अधिक पढ़े-लिखे थे। मूर्तियों के रङ्ग भी यद्यपि अनेक होते हैं पर मुख्य रङ्ग तीन हैं। श्वेत जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा शुद्ध है, स्वच्छ है; उसकी किसी बात में किसी का कुछ मेल नहीं है। पर सभी उसके ऐसे आश्रित

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

हो सकते हैं जैसे उजले रङ्ग पर सब रङ्ग। वह त्रिगुणातीत तो हुई, पर त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नहीं। यदि हम सतोगुणमय भी कहें तो बेअदबी नहीं करते! दूसरा लाल रङ्ग है जो रजोगुण का वर्ण है। ऐसा कौन कह सकता है कि यह संसार भर का ऐश्वर्य किसी और का है। और लीजिये कविता के आचार्यों ने अनुराग का रङ्ग लाल कहा है। फिर अनुराग देव का रङ्ग और क्या होगा। तीसरा रङ्ग काला है। उसका भाव सब सोच सकते हैं कि सबसे पक्का यही रङ्ग है, इस पर दूसरा रङ्ग नहीं चढ़ता। ऐसे ही प्रेमदेव सबसे अधिक पक्के हैं उन पर और रङ्ग क्या चढ़ेगा? इसके सिवाय वाह्य जगत के प्रकाशक नैन हैं। उनकी पुतली काली होती है, भीतर का प्रकाशक ज्ञान है। उसकी प्रकाशिनी विद्या है जिसकी समस्त पुस्तकें काली मसी से लिखी जाती हैं। फिर कहिए जिससे अन्तर, बाहर दोनों प्रकाशित होते हैं, जो प्रेमियों को आँख की ज्योति से भी प्रियतर है, जो अनन्त विद्यामय है उसका फिर और क्या रङ्ग मानें? हमारे रसिक पाठक जानते हैं किसी सुन्दर व्यक्ति के आँखों में काजल और गोरे गोरे गाल पर तिल कैसा भला लगता है कि कवियों की पूरी शक्ति, रसिकों भर का सर्वस्व एक बार उस शोभा पर निछावर हो जाता है। यहाँ तक कि जिनके असली तिल नहीं होता उन्हें सुन्दरता बढ़ाने को कृत्रिम तिल बनाना पड़ता है। फिर कहिये तो, सर्व शोभामय परम सुन्दर का कौन रङ्ग कल्पना करोगे? समस्त शरीर में सर्वोपरि शिर है उस पर केश कैसे होते हैं? फिर सर्वोत्कृष्ट देवाधिदेव का और क्या रङ्ग है? यदि कोई बड़ा मैदान हो लाखों कोस का और रात को उसका अन्त लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे। पर क्या उनसे उसका छोर देख लोगे? केवल जहाँ दीप ज्योति है वहीं तक देख सकोगे फिर आगे अन्धकार ही तो है! ऐसे ही हमारी हमारे अगणित ऋषियों की सब की बुद्धि जिसका ठीक हाल नहीं प्रकाश कर सकती उसे अप्रकाशवत् न मानें तो क्या मानें? रामचन्द्र कृष्णचन्द्रादि को यदि अंगरेजी जमाने वाले ईश्वर न मानें तौ

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

भी यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपेक्षा ईश्वर से उनसे अधिक संबंध था। फिर हम क्यों न कहें कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो इसी रंग ढंग का है।

अब आकारों पर ध्यान दीजिए। अधिकतर शिव मूर्ति लिङ्गाकार होती है जिसमें हाथ, पाँव, मुख कुछ नहीं होते। सब मूर्ति-पूजक कह देंगे कि 'हम तो साक्षात् ईश्वर नहीं मानते न उसकी यथा तथ्य प्रतिकृति मानें। केवल ईश्वर की सेवा करने के लिए एक संकेत चिन्ह मानते हैं।' यह बात आदि में शैवों ही के घर से निकली है, क्योंकि लिङ्ग शब्द का अर्थ ही चिन्ह है।

सच भी यह है जो वस्तु वाह्य नेत्रों से नहीं देखी जाती उसकी ठीक-ठीक मूर्ति ही क्या? आनन्द की कैसी मूर्ति? दुख की कैसी मूर्ति? रागिनी की कैसी मूर्ति? केवल चित्त-वृत्ति। केवल उसके गुणों का कुछ द्योतक!! बस! ठीक शिव मूर्ति यही है। सृष्टि कर्तृत्व, अचिन्त्यत्व अप्रतिमत्व कई बातें लिंगाकार मूर्ति से ज्ञात होती हैं। ईश्वर यावत् संसार का उत्पादक है। ईश्वर कैसा है, यह बात पूर्ण रूप से कोई नहीं वर्णन कर सकता। अर्थात् उसकी सभी बातें गोल हैं। बस जब सभी बातें गोल हैं तो चिन्ह भी हमने गोल-गोल कल्पना कर लिया यदि 'नतस्य प्रतिमास्ति' का ठीक अर्थ यही है कि ईश्वर प्रतिमा नहीं है तो इसकी ठीक सिद्धि ज्योतिर्लिंग ही से होगी, क्योंकि जिसमें हाथ, पाँव, मुख, नेत्रादि कुछ भी नहीं है उसे प्रतिमा कौन कह सकता है? पर यदि कोई मोटी बुद्धि वाला कहे कि जो कोई अवयव ही नहीं तो फिर यही क्यों नहीं कहते कि कुछ नहीं है। हम उत्तर दे सकते हैं कि आँखें हों तो धर्म से कह सकते हो कि कुछ नहीं है? तात्पर्य यह है कि कुछ है, और कुछ नहीं है। दोनों बातें ईश्वर के विषय में न कही जा सकें, न नहीं कही जा सकें, और हाँ कहना भी ठीक है। एवं नहीं कहना ठीक है। इसी भाँति शिवलिंग भी समझ लीजिए। वह निरवयव है, पर मूर्ति है। वास्तव में यह विषय ऐसा है कि

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

मन, बुद्धि और वाणी से जितना सोचा समझा और कहा जाय उतना ही बढ़ता जायगा। और हम जन्म भर बका करेंगे, पर आपको यही जान पड़ेगा कि अभी श्रीगणेशायनमः हुई है !!!

इसी से महात्मा लोग कह गये हैं कि ईश्वर को वाद में न ढूँढ़ो पर विश्वास में। इसलिए हम भी योग्य समझते हैं कि सावयव (हाथ पाँव इत्यादि वाली) मूर्तियों के वर्णन की ओर झुकें। जानना चाहिए कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसी ही होती है। यह संसार का जातीय धर्म है कि जो वस्तु हमारे आस पास हैं उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौड़ती है। फ़ारस, अरब और इंग्लिश देश के कवि जब संसार की अनित्यता वर्णन करेंगे तो क़ब्रिस्तान का नक्शा खींचेंगे, क्योंकि उनके यहाँ स्मशान होते ही नहीं हैं। वे यह न कहें तो क्या कहें कि बड़े-बड़े बादशाह खाक में दबे हुए सोते हैं। यदि कब्र का तखता उठा कर देखा जाय तो शायद दो चार हड्डियाँ निकलेंगी जिन पर यह नहीं लिखा कि यह सिकन्दर की हड्डी है, यह दारा की, इत्यादि।

हमारे यहाँ उक्त विषय में स्मशान का वर्णन होगा, क्योंकि अन्य धर्मियों के आने से पहिले यहाँ कब्रों की चाल ही न थी। यूरोप में खूबसूरती के बयान में अलकावली का रंग काला कभी न कहेंगे। यहाँ ताम्र वर्ण सौन्दर्य का अंग न समझा जायगा। ऐसे ही सब बातों में समझ लीजिये तब समझ में आ जायगा कि ईश्वर के विषय में बुद्धि दौड़ाने वाले सब कहीं सब काल में मनुष्य ही हैं। अतएव उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य ही के स्वरूप की सी सब ठौर की गई है। इंजील और कुरान में भी कहीं कहीं खुदा का दाहिना हाथ बाँया हाथ इत्यादि वर्णित हैं, वरंच यह खुला हुआ लिखा है कि उसने आदम को अपने स्वरूप में बनाया। चाहे जैसी उलट फेर की बातें मौलवी साहब और पादरी साहब कहें, पर इसका यह भाव कहीं न जायगा कि ईश्वर यदि सावयव है तो उसका भी रूप हमारे ही रूप का सा होगा। हो चाहे जैसा पर हम यदि ईश्वर को

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मान सकते हैं जैसों से प्रत्यक्ष में हमारा उच्च सम्बन्ध है। हमारे माता, पिता, भाई-बन्धु, राजा, गुरु जिनको हम प्रतिष्ठा का आधार एवं आधेय कहते हैं उन सब के हाथ, पाँव, नाक, मुँह हमारे हस्तपादादि से निकले हुए हैं, तो हमारे प्रेम और प्रतिष्ठा का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्धी कैसा होगा बस इसी मत पर सावयव सब मूर्ति मनुष्य की सी मूर्ति बनाई जाती है। विष्णुदेव की सुन्दर सौम्य मूर्तियाँ प्रेमोत्पादनार्थ हैं क्योंकि खूबसूरती पर चित्त अधिक आकर्षित होता है। भैरवादि की मूर्तियाँ भयानक हैं जिसका यह भाव है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओं के लिए महा भयजनक है। अथच हम उसकी मंगल-मयी सृष्टि में हलचल डालेंगे तो वह कभी उपेक्षा न करेगा। उसका स्वभाव क्रोधी है। पर शिवमूर्ति में कई एक विशेषता है। उनके द्वारा हम यह उपकार यथामति ग्रहण कर सकते हैं।

शिर पर गंगा का चिन्ह होने से यह भाव है कि गंगा हमारे देश की सांसारिक और परमार्थिक सर्वस्व हैं और भगवान सदाशिव विश्व-व्यापी हैं। अतः विश्वव्यापी की मूर्ति-कल्पना में जगत वा सर्वोपरि पदार्थ ही शिरस्थानी कहा जा सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि पुराणों में गंगा की विष्णु के चरण से उत्पत्ति मानी गई है और शिवजी को परम वैष्णव कहा है। उस परमवैष्णवता की पुष्टि इससे उत्तम और क्या हो सकती है कि उनके चरण निर्गत जल को शिर पर धारण करें। ऐसे ही विष्णु भगवान को परम शैव लिखा है कि भगवान विष्णु नित्य सहस्र कमल पुष्पों से सदा शिव की पूजा करते थे। एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार के कि हमारा नाम कमल-नयन है अपना नेत्र कमल शिव जी के चरण-कमल को अर्पण कर दिया। सच है अधिक शैवता और क्या हो सकती है। हमारे शास्त्रार्थी भाई ऐसे वर्णन पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं। पर उनका उत्तर हम कभी पुराण प्रतिपादन से देंगे। इस अवसर पर हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे-ऐसे सन्देह बिना कविता पढ़े कभी नहीं

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

दूर होने के। हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि भगवान विष्णु की शैवता और भगवान शिव की वैष्णवता का आलंकारिक वर्णन है। वास्तव में विष्णु अर्थात् व्यापक और शिव अर्थात् कल्याणमय यह दोनों एकही प्रेम-स्वरूप के नाम हैं। उसका वर्णन पूर्णतया असम्भव। अतः कुछ-कुछ गुण एकत्र कर के दो स्वरूप कल्पना कर लिए गये हैं जिसमें कवियों को वचन-शक्ति के लिए आधार मिले।

हमारा मुख्य विषय शिव-मूर्ति है और वह विशेषतः शैवों के धर्म का आधार है। अतः इन अप्रतर्क्य विषयों को दिग्दर्शन मात्र कथन करके अपने शैव भाइयों से पूछते हैं कि आप भगवान गङ्गाधर के पूजक होके वैष्णवों से किस बिरते पर द्वेष रख सकते हैं? यदि धर्म से अधिक मतवालेपन पर श्रद्धा हो तो अपने प्रेमाधार भगवान भोलानाथ को परम वैष्णव एवं गङ्गाधर कहना छोड़ दीजिये! नहीं तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णव मात्र को आपको देवता समझे। इसी भाँति यह भी समझना चाहिये कि गङ्गाजी परम शक्ति हैं इससे शैवों को शाक्तों के साथ विरोध अयोग्य है। यद्यपि हमारी समझ में तो आस्तिक मात्र को किसी से द्वेष-बुद्धि रखना पाप है, क्योंकि सब हमारे जगदीश ही प्रजा की हैं, सब हमारे खुदा ही के बन्दे हैं। इस नाते सभी हमारे आत्मीय बन्धु हैं पर शैव-समाज का वैष्णव और शक्ति लोगों से विशेष सम्बन्ध ठहरा। अतः इन्हें तो परस्पर महा मैत्री से रहना चाहिये। शिव-मूर्ति में अकेली गङ्गा कितना हित कर सकती है इसे जितने बुद्धिमान जितना विचारें उतना ही अधिक उपदेश प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए हम इस विषय को अपने पाठकों के विचार पर छोड़ आगे बढ़ते हैं।

बहुत मूर्तियों के पाँच मुख होते हैं जिससे हमारी समझ में यह आता है कि यावत संसार और परमार्थ का तत्व तो चार वेदों में आप को मिल जायगा, पर यह न समझियेगा कि उनका दर्शन भी वेद-विद्या ही से प्राप्त

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

है। जो कुछ चार वेद सिखलाते हैं उससे भी उनका गुण अधिक है। वेद उनकी वाणी है। केवल चार पुस्तकों पर ही उस वाणी की इति नहीं है। एक मुख और है जिसकी प्रेम-मयी वाणी केवल प्रेमियों के सुनने में आती है। केवल विद्याभिमानी-अधिकाधिक चार वेद द्वारा बड़ी हद्द चार फल (धर्मार्थ काम मोक्ष) पा जायँगे, पर उनके पंचम मुख सम्बन्धी सुख औरों के लिये हैं।

शिव-मूर्ति क्या है और कैसी है बात तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी नहीं कह सकते हम क्या हैं। पर जहाँ तक साधारणतया बहुत सी मूर्तियाँ देखने में आई हैं उनका कुछ वर्णन हमने यथामति किया, यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें और भी लिखते, पर इतने लिखने से भी हमें निश्चय है किसी न किसी भाई का कुछ भला हो ही रहेगा। मरने के पीछे कैलाशवास तो विश्वास की बात है। हमने न कैलाश देखा है, न किसी देखने वाले से कभी वार्तालाप अथवा पत्र व्यवहार किया है। हाँ यदि होता होगा तो प्रत्येक मूर्ति के पूजक को ही रहेगा। पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलाश का सुख प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि जहाँ शिव हैं वहाँ कैलाश है। तो जब हमारे हृदय में शिव होंगे तो हमारा हृदय-मन्दिर क्यों न कैलाश होगा? हे विश्वनाथ! कभी हमारे हृदय-मन्दिर को कैलाश बनाओगे? कभी वह दिन दिखाओगे कि भारतवासी मात्र केवल तुम्हारे हो जायँ और यह पवित्र भूमि फिर कैलाश हो जाय? जिस प्रकार अन्य धातु पाषाणादि निर्मित मूर्तियों का रामनाथ, वैद्यनाथ, आनन्देश्वर, खेरेश्वर आदि नाम होता है वैसे इस अक्षरमयी शिव-मूर्ति के अगणित नाम हैं। हृदयेश्वर, मङ्गलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है। कोई महाशय प्रेम का ईश्वर न समझे। मुख्य अर्थ है कि प्रेममय ईश्वर। इनका दर्शन भी प्रेम-चक्षु के बिना दुर्लभ है। जब अपनी अकर्मण्यता का और उनके एक एक उपकार का सच्चा ध्यान जमेगा तब अवश्य हृदय

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

उमड़ेगा, और नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी। उस धारा का नाम प्रेम-गङ्गा है। उसी के जल से स्नान कराने का माहात्म्य है। हृदय-कमल उनके चरणों पर चढ़ाने से अक्षय पुण्य है। यह तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम के बिना नहीं हो सकती। पर यह भी स्मरण रखिये कि यदि आपके हृदय में प्रेम है तो संसार भर के मूर्तिमान और अमूर्तिमान सब पदार्थ शिव मूर्ति हैं, अर्थात् कल्याण का रूप है। नहीं तो सोने और हीरे की मूर्ति तुच्छ है। यदि उससे स्त्री का गहना बनवाते तो उसकी शोभा होती, तुम्हें सुख होता, भैयाचारे में नाम होता, बिपति काल में निर्वाह होता; पर मूर्ति से कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। पाषाण, धातु, मृत्तिका का कहना ही क्या है? स्वयं तुच्छ पदार्थ है। केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर हैं, नहीं तो घर की चक्की से भी गये बीते, पानी पीने के भी काम के नहीं, यही नहीं प्रेम के बिना ध्यान ही में क्या ईश्वर दिखाई देगा? जब चाहो आँखें मूँद के अन्धे की नकल कर देखो। अन्धकार के सिवाय कुछ न सूझेगा। वेद पढ़ने में हाथ मुँह दोनों दुखेंगे। अधिक श्रम करोगे, दिमाग में गर्मी बढ़ जायगी। खैर इन बातों के बढ़ाने से क्या है? जहाँ तक सहृदयता से विचार कीजियेगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे शिर पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल, मुक्ति प्रेत की बहिन है। ईश्वर का तो पता ही लगना कठिन है ब्रह्म शब्द ही नपुंसक है। और हृदय मन्दिर में प्रेम का प्रकाश है। संसार शिवमय है क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिव-मूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है।

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

हिन्दोस्थान

बालमुकुन्द गुप्त

(सन् १८६५-१६०७)

कालाकांकर दैनिक हिन्दी पत्र "हिन्दोस्थान" से कोई दो वर्ष हमारा भी संबंध रहा। उसका कारण हुई थी पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजी की कृपा। सन् १८८६ ई० के आरंभ में पण्डित दीनदयालुजी शर्मा के उद्योग से श्रीभारतधर्ममहामण्डल का दूसरा महाधिवेशन श्रीवृन्दावन धाम में हुआ था। उस समय शीतकाल था। मालवीयजी महोदय उन दिनों "हिन्दोस्थान" के संपादक थे। आप भी महामण्डल में पधारे थे। हमारा संबंध उस समय लाहौर के पुराने उर्दू पत्र "कोहेनूर" से था। लाहौर से हम भी मंडल में शरीक हुए थे। मालवीयजी से साक्षात् होने पर उन्होंने आज्ञा की कि आप को हिन्दोस्थान पत्र में हमारे साथ काम करना चाहिए। कानपुर से पण्डित प्रतापनारायण मिश्र को भी हम बुलाते हैं। उनसे विनय की गयी कि, यहाँ हिन्दी ही नहीं आती, आप के साथ काम कैसे करेंगे। उन्होंने कहा—कुछ परवाह नहीं आप शामिल तो हूजिए।

अन्त को उनके अनुरोध का पालन करना पड़ा। उसी वर्ष के अंतिम भाग में उक्त पत्र के स्टाफ में शामिल हुए। पण्डित प्रतापनारायण जी कुछ पहले आ चुके थे। उस समय वर्षाकाल का आरम्भ था।

"हिन्दोस्तान" के स्टाफ में उस समय अच्छे अच्छे लोग एकत्र हो गये थे। वैसा जमाव आज तक किसी हिन्दी पत्र के स्टाफ में नहीं हुआ।

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

मालवीयजी सम्पादक थे, बाबू शशिभूषण चटर्जी बी० ए०, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त तथा दो तीन और भी लोग उक्त पत्र की सम्पादक मण्डली में शामिल थे। मालवीय जी के जी में पत्र की उन्नति के विषय में बड़े बड़े ऊँचे विचार थे। पर कुछ दिन पीछे वह वकालत की परीक्षा की तय्यारी करने लगे। जल्द ही वह "हिन्दोस्थान" से संबंध छोड़ने पर विवश हुए। उनके अलग होने पर बाबू शशिभूषण पत्र के सम्पादन में अधिक परिश्रम करने लगे। कोई एक साल तक उनका साथ रहा। पीछे वह भी अलग हो गये। कुछ दिन पीछे पण्डित प्रताप-नारायण मिश्र भी अलग हो गये। तब पण्डित शीतलप्रसाद जी बुलाये गये थे। दो साल से कम के भीतर ही यह सब उलटा पलटी हो गयी। अन्त में पण्डित शीतलप्रसाद जी को छोड़कर हमें भी अलग होना पड़ा। उक्त पण्डित जी अब तक बने हुए हैं। सच तो यह है कि उनकी भाँति "हिन्दोस्थान" आफ़िस में जमकर रहने का सौभाग्य और किसी को प्राप्त नहीं हुआ। कालाकांकर रहने के योग्य स्थान है। जो लोग वहाँ रहते हैं और वहाँ के रहने के आनन्द को समझ सकते हैं वह सचमुच भाग्यवान हैं।

कालाकांकर एक बहुत ही छोटा सा गाँव है। उसकी जनसंख्या एक हज़ार से भी कम है। प्रयाग से पन्द्रह कोस है। पश्चिम की तरफ गङ्गा तट पर है। ईस्ट इण्डियन रेलवे के सिराथू स्टेशन से वह कोई पाँच कोस है। मार्ग में एक कच्ची सड़क है। उस पर इक्का चल सकता है। उक्त स्थान गंगा जी के पार है इससे जाते और आते नाव द्वारा गंगाजी से पार होना पड़ता है। गंगा इस गाँव को प्रायः तीन तरफ से घेरे हुए है। गाँव के चारों ओर कई कोस का बन है। उसमें ढाक और कई प्रकार के जंगली पेड़ ही अधिक हैं तथापि बड़ा रमणीक है। गाँव के आस पास एक नहर है जो बन में से होकर निकली है। उसके किनारे खूब ऊँचे हैं। उन पर बेर आदि के जंगली पेड़ खड़े हुए हैं। बरसात में जब गंगा जी का जल खूब बढ़ता है तो यह नहर भर जाती है। उस समय कालाकांकर की शोभा

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

देखने के योग्य होती है। वह गंगा और नहर के बीच में एक छोटा सा टापू बन जाता है। बन में रास्तों पर इस नहर के कई एक छोटे-छोटे पुल हैं। एक छोटा सा नाला इस नहर से निकल कर कालाकांकर से बाहर कई मील जंगल में बहा चला जाता है। नहर भर जाने पर दो दिन तक यह नाला खूब जोर से बहता है। नहर का पानी पाँच चार दिन ही में सूख जाता है। क्योंकि कालाकांकर की भूमि गंगातट की ओर एकदम रेतीली और बाकी भूमि मटियाली है। पानी को गिरते ही पी जाती है। कितने जोर की वर्षा क्यों न हो वहाँ कीचड़ नहीं होता। इधर वर्षा थमी और उधर भूमि ने सब जल सोखा। इससे वहाँ वर्षा काल में भी मच्छर आदि बहुत कम होते हैं। वर्षा वहाँ बहुत ही सुखकर प्रतीत होती है। मिट्टी नर्म होने के कारण कालाकांकर के आस पास की भूमि में नाले भी बहुत हैं। यह बरसाती पानी से कट कर बन जाते हैं। वर्षा ऋतु में इनमें थोड़ा-थोड़ा जल बहता रहता है और जल सूख जाने के बाद उनमें जंगली झाड़ियाँ और छोटे छोटे पेड़ खूब फैल जाते हैं।

गाँव में सब घर कच्चे, मिट्टी के हैं। खपरैलों से छाये हुए हैं। पक्की एक श्रीमान् राजा रामपालसिंह महोदय की बारहदरी है। हिन्दोस्थान प्रेस का भी कुछ अंश पक्का है जो गाँव के दक्षिणी द्वार के सहारे बना हुआ है। इसी प्रकार पुरानी गढ़ी का कुछ अंश पक्का है जिसे वहाँ का राजभवन या किला कह सकते हैं। इन दो तीन मकानों के सिवा सब मकान कच्चे हैं। वर्षा ऋतु और शीतकाल में कालाकांकर का रहना बहुत ही भला जान पड़ता है। जेठ की धूप के समय अवश्य वहाँ दिन में जी घबराता है और आंधी चलने से रेत उड़-उड़ कर मजा किरकिरा करता रहता है। फिर जब तेज आंधियाँ चलती हैं तो खपरैलें हिलहिल कर बहुत से मकानों के भीतर भी रेत गिरने लगता है। तो भी गर्मी की रातें अच्छी होती हैं और सबेरे उठकर वन की हवा और गंगाजी का स्नान तो उन दिनों बड़ा सुखकारी होता है।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

कालाकांकर का जलवायु बड़ा ही स्वास्थ्यप्रद है। अन्न वहाँ इतना पचता है कि ड्योढ़ी दूनी खूराक हो जाती है। चीजें सब अच्छी और सस्ती मिलती हैं। अन्न अच्छा मिलता है। घी शुद्ध साफ मिलता है। दूध अच्छा मिलता है। एक आने का एक सेर दूध हमारे जमाने में मिलता था। उस समय वहाँ ४५ सेर का एक मन था। इससे दूध सेर की जगह कोई सवा सेर मिलता था। बाजार के दिन कई प्रकार के शाक पात आते थे, जो सस्ते ही मिलते थे। आमों का तो उक्त स्थान जंगल है। उसके आसपास के गाँवों में कोसों तक आमों के बाग हैं। सन् १८६० ई० में इतने आम हुए थे कि दो पैसे सैकड़े तक बिकते थे। आमों की गिनती भी वहाँ विचित्र देखने में आई थी। सौ की जगह एक सौ सताईस गिने जाते थे। और भी कितनी तरह के फल वहाँ पर मिलते हैं। यह सब बहुत बढ़िया नहीं होते, तो भी खासे होते हैं।

गंगा स्नान का जैसा सुख वहाँ है वैसा अन्यत्र कम देखने में आया। अकेली गंगा है। वहाँ तक उसमें यमुना भी नहीं मिली है। जल खूब स्वच्छ है। पक्के घाट का नाम नहीं। कच्चे किनारों पर जहाँ चाहो स्नान करो। एक जगह घाटियों ने तख्तों का घाट बना रखा है। उसी को वहाँ का प्रधान घाट समझना चाहिए। स्नानसंध्या का वहाँ खूब ही आराम है। वहाँ का जल खूब मीठा और पाचक है। पर गंगाजल पीने का वहाँ इतना अभ्यास हो जाता है कि उसके सामने कोई जल अच्छा नहीं मालूम होता। दो साल में दो एक बार ही शायद कूप जल पीने की नौबत आई हो। वह भी गाँव में नहीं, वन में।

उस समय "हिन्दोस्थान" पत्र का कोई आफिस न था। प्रेस में छापने के सिवा और किसी काम के लिए स्थान न था। यहाँ कभी-कभी प्रूफ देखने के लिए जाना पड़ता था। एडिटर लोग अपने रहने के स्थानों ही में अलग-अलग लिखते रहते थे। पण्डित मदनमोहनजी अपनी कोठी के आगे एक उसारे में बैठ कर लिखते थे। हम लोग भी कभी-कभी वहीं

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

पहुँच जाते थे। हम लोग अपने-अपने ठिकाने पर लिखते थे। मदनमोहन जी के काम छोड़ देने पर शशीबाबू, पंडित प्रतापनारायण और हम बहुधा हमारे ही स्थान पर एकत्र हो कर लिखते थे। यह मेल बहुत दिन तक रहा। आरम्भ में कुछ दिन राजा साहब की बारहदरी के ऊपर के मकान में लिखने का स्थान बनाया गया था। बड़ा अच्छा समय था, बड़े अच्छे दिन थे, बड़ी स्वाधीनता और बड़ी बेफिकरी थी। स्वप्न की भाँति वह पन्द्रह, सोलह साल का बीता हुआ जमाना याद आता है। वहाँ न मीलों लम्बी सड़कें थीं, न आकाश से बातें करने वाली ऊँची-ऊँची इमारतें थीं, न घोड़ा गाड़ियों और ट्रामगाड़ियों की भड़-भड़ थी। न मार्ग चलते भीड़ में रुकने का झंझट और गाड़ियों की फैंट में आकर दब मरने का भय था। न वहाँ कदम-कदम पर मन लुभानेवाली या तबीयत बिगाड़नेवाली चीजें थीं। न रोशनी थी, न कल कारखाने, और न चिमनियों का दम घोटनेवाला कड़वा धुआँ था। न सड़कों पर कूड़े कचरे के ढेर थे, न गलियाँ बदबू से सड़ती थीं। राजा साहब की आलमारी के सिवा वहाँ शराब की कहीं एक बोतल तक न दिखाई देती थी। बाजारी स्त्रियों और बद-चलन पुरुषों से वह भूमि एकदम पाक थी। लम्बी चौड़ी वासनाओं का निवास उस स्थान में नहीं। आकाश पाताल को एक करने वाले विचार का प्रवेश वहाँ नहीं होता। बड़ा ही शान्तिमय एकान्त स्थान है। सीधी सादी रीति से जीवन बिताने के लिए उससे अच्छा और कोई स्थान नहीं हो सकता। कभी वह गंगा के किनारे किनारे पंडित प्रतापनारायणजी और दूसरे सज्जनों के साथ धीरे-धीरे टहलना, कभी मालवीयजी के साथ चाँदनी में रेती पर फिरना और कितनी ही तरह की अच्छी बातें करना स्मरण आता है। कालाकांकर भूलने की वस्तु नहीं है। वह छोटा सा रम्य स्थान सचमुच स्वर्ग का टुकड़ा था। उसमें रहने का समय भूस्वर्ग में रहने के समय की भाँति था। चिन्ता बहुत कम थी, वासनाएँ भी इतनी न थीं, विचार भी सीमाबद्ध स्थान में विचरण करता था। पर हाय! उस समय उस स्थान का

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

हृदय में इतना आदर न था। स्वर्ग में रह कर कोई स्वर्ग का आदर ठीक नहीं कर सकता है। कालाकांकर में रहकर कालाकांकर की ठीक कदर आदमी नहीं कर सकता। आज कलकत्ते में वह सब बातें एक-एक करके याद आती हैं। पर क्या वह सब फिर मिल सकती हैं? सब कुछ मिले तो वह बेफिकरी कहाँ? वह उमर कहाँ? एक स्वप्न था कि जो जागते जागते देखा था:—

"अफसानये शबाब खुदारा न पूछिए।
देखा है जागते में जिसे यह वह ख्वाब था"

"हिन्दोस्थान" की कई एक बातें ध्यान देने और अनुकरण करने के योग्य हैं। वह जब जो बात लिखता है खूब सरल स्पष्ट रीति पर लिखता है। उसकी बहुत ही सीधी चाल है। व्यंग कटूक्ति कटाक्ष मानो वह जानता ही नहीं। आपस की छेड़-छाड़ से भी वह खूब बचता है। यदि कभी किसी से छिड़ भी जाती है तो लिखने में सभ्यता और गम्भीरता का बड़ा ध्यान रखता है। किसी पत्र से यदि कोई खबर या लेख उद्धृत करता है तो उसका साफ नाम जाहिर करने में कभी कंजूसी नहीं करता। उसके नाम को समूचा हजम करने अथवा उसके इशारे बनाकर लिखने की उसे आदत नहीं। हिन्दी के समस्त अखबारों को ध्यान से देख जाओ यह गुण पूर्ण रीति से केवल हिन्दोस्थान ही में मिलेगा।

पर दो एक बातों के लिए हिन्दोस्तान की निन्दा भी होती है और हँसी भी होती है। और एक तो उसने लिपि में अपनी ओर से जो तराश खराश की है वह ठीक हुई नहीं। उसके म्यनेजर, यडिटर, यसिष्टएट, प्यूस आदि शब्दों को जो नहीं जानते वह ठीक नहीं पढ़ सकते और जो जानते हैं वह हँसते हैं। इस प्रकार तराश खराश की नींव सन् १८६१ ईस्वी से पड़ी है। हम जिस समय "हिन्दोस्थान" से सम्बन्ध छोड़ने को थे उन दिनों राजा रामपालसिंह महोदय ने हिन्दीवालों को अंगरेजी सिखाने के लिए "स्यल्फटीचिंग बुक" के नाम से एक पोथी अंगरेजी में तय्यार करना

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

आरम्भ की थी। उसीके प्रसाद से इस विचित्र लिपि की नीव हिन्दोस्थान पत्र में पड़ी। राजा साहब ने अपनी समझ में यह चाल भले के लिए चलाई है जिससे अंगरेजी शब्द हिन्दी लिपि में शुद्ध लिखे जावें और उनका शुद्ध उच्चारण हो पर इससे यह मतलब तो हासिल नहीं होता, उल्टी लिपि की खराबी होती है। इसके लिए हिन्दोस्थान पर हिन्दी अखबारों ने कई बार कटाक्ष किये और उसकी दिल्लगी उड़ाई। पर उसने अपनी चुप से सब को परास्त कर दिया। खैर आज हम उसूल के साथ दो चार बातें लिखते हैं—राजा साहब को उन पर ध्यान देकर अपने लिखने की चाल को सुधारना चाहिये। हम देखते हैं कि अंगरेजी A और E दोनों के लिए हिन्दोस्थान में 'य' लिखा जाता है। Manager में दो बार A है। इससे इसीसे हिन्दोस्थान में दो बार य लगाकर "म्यन्यजर" लिखा जाता है। Editor में E है वह यडियर लिखा जाता है। Assistant में दो A हैं यह यसिस्ट्यण्ट लिखा जाता है। Self में E है वह स्यल्फ लिखा जाता है। क्या राजा साहब कृपा करके बता सकते हैं कि E और A का एक ही सा उच्चारण वह किस कायदे से करते हैं और राजा साहब के लिखने की रीति मान लेने से लोग उक्त दोनों अक्षरों के उच्चारण का भेद कैसे जान सकेंगे? य वर्णमाला में अलग अक्षर है और उसका अलग उच्चारण है। जब इस अक्षर को राजा साहब अंगरेजी के लिए छीन लेंगे तो जहाँ इसका असली काम पड़ता है वहाँ क्या किया जायगा। फिर A और E स्वर हैं और य व्यंजन। संस्कृत के स्वर ही अंगरेजी स्वरों के लिए बर्ताव में लाना उचित है। व्यंजन को नाहक स्वर बनाकर व्यतिक्रम क्यों किया जाता है? ऐसे और स्वरों की जगह भी राजा साहब व्यंजन से काम लेने लगे हैं। अर्थात् O की जगह व लिखने लगे हैं जैसे Proprietor को प्रवप्र्यूटर। हम समझ गये हैं कि राजा साहब को तीन चार स्वरों की जरूरत पड़ी जिनमें ए ऐ और ओ की जरूरत ने उनको यह सब उलट पलट करने का ध्यान दिलाया है। पर

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

यह जरूरत समझदार लोगों ने भलीभांति मिटा दी है। अंगरेजी और दूसरी भाषाओं से बहुत से शब्द ऐसे आ मिले हैं जिनसे उक्त तीनों स्वरों का पूरी तरह उच्चारण नहीं होता, आधा होता है। Self और Editor में ए का आधा उच्चारण होता है और Manager शब्द में ऐ का आधा उच्चारण। इसी प्रकार और बाकी का भी समझ लेना चाहिए।

यदि हिन्दोस्थान का यह लिपि-वैचित्र्य अंगरेजी शब्दों तक ही सीमाबद्ध रहता तो भी एक प्रकार कुशल थी। पर हम देखते हैं यह हिन्दोस्थान के हिन्दी शब्दों में भी संक्रामक हुआ जाता है। बुलाया शब्द को राजा साहब पूर्वी ढङ्ग से बोलाया बोलते हैं पर इस बोलाया में ओ का उच्चारण पूरा नहीं होता आधा होता है। इसीसे हिन्दोस्थान पत्र में बोलाया लिखा जाता है। और इसी प्रकार 'ए' का आधा उच्चारण करने में में की जगह म्यं लिखा जाता है। शुद्धता के विचार से इस प्रकार व्यर्थ कष्ट पाना ठीक नहीं है। यदि राजा साहब को स्वरों के अधिक और कम उच्चारण करने का इतना ख्याल हो तो वह उस चाल पर चल सकते हैं जिस पर ग्रियर्सन साहब और महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी "पद्मावति" के एसियाटिक सोसाइटी वाले संस्करण में चले हैं। उस पुस्तक में स्वरों के पूरा उच्चारण करने की तो वही शक्लें रखी हैं जो हैं, और कम उच्चारण करने के लिए उनकी शकल में जरा भेद कर दिया है जिससे असली शकल भी बनी रहती है और पूरा भेद भी जान पड़ता है। समय की जरूरत ने ए ऐ ओ औ का एक एक ह्स्वरूप और खड़ा कर दिया। अच्छा ही है।

इसी प्रकार इस पत्र के नाम पर भी बहुत तकरार है। कितने ही व्याकरण से खैंच तान कर अर्थ निकालने वालों से पूछा कोई भी हिन्दोस्थान नाम को व्याकरण से शुद्ध सिद्ध नहीं कर सका। जब ऐसा है तो क्यों एक गलत नाम रखने की चेष्टा की जाती है। हम देखते हैं कि उक्त पत्र में जहाँ जहाँ हिन्दुस्थान का शब्द आता है वहाँ वहाँ उसे पत्र के नाम पर

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

हिन्दोस्थान बना लिया जाता है हर आदमी कोई एक हठ कर सकता है और उस हठ को निबाह भी सकता है पर पढ़े लिखे और समझदार आदमियों का काम है कि निकम्मी हठ पकड़ कर न बैठे। भाषा और लिपि दोनों ऐसे वस्तु हैं कि इनमें जहाँ तक अधिक लोगों की एकता रह सके उतना ही अच्छा है। हिन्दोस्थान के चलाने वालों को यह भी देख लेना चाहिए कि जो लिपि वह चलाते हैं वह १४ वर्ष से उनके भीतर ही है और किसी ने उनकी नकल नहीं की। यदि यह चाल अच्छी होती तो सर्वत्र फैल जाती।

हिन्दी अखबारों में हिन्दोस्थान ही एक ऐसा पत्र है जो बहुत दिनों से दैनिक चल रहा है अब तक वही हिन्दी का एक मात्र दैनिक पत्र कहलाता था अब एक और भी हुआ है। तथापि वह पहला है पुराना और अच्छे ठिकाने से निकलता है। इससे बार बार जी में यही इच्छा होती है कि वह कुछ और उन्नत ढंग से चलता तो अच्छा होता। दैनिक पत्रों के लिए जो सामान दरकार वह उसमें नहीं है। तार की खबरों को वह सिलसिले के साथ नहीं छापता। उसके ऐसे सम्बाददाता भी नहीं हैं जो देश विदेश से उसे जरूरी खबरें भेजें। न वह ऐसे स्थान से निकलता है जहाँ कुछ स्थानीय खबरें हों। इन सब अभावों को यदि वह इच्छा करे तो पूरा कर सकता है। इनके सिवा सबसे अधिक सामयिक बातों का समावेश और उनकी आलोचना आवश्यक है। इसका उसमें एकदम अभाव है। दैनिक होने पर भी उसके पाठक यह नहीं जान सकते कि रूस जापान की लड़ाई का क्या हाल है। विलायत में क्या हो रहा है। भारतवर्ष में क्या हो रहा है। बड़े लाट क्या कहते हैं और क्या करते हैं इत्यादि। हम यह नहीं कहते कि वह अपनी पालिसी पलट दे या अपनी राय बदल दे चाहे उनकी कुछ ही राय हो और कैसी ही हो पर उसमें वह मसाला तो होना चाहिए जो एक दैनिक पत्र को दरकार है। यदि वह चेष्टा करे तो यह दिखा सकता है कि एक हिन्दी दैनिक पत्र कहाँ तक अच्छा हो सकता है और देश में उसका कहाँ तक आदर हो सकता है।

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

दण्ड-देव का आत्म-निवेदन

महावीरप्रसाद द्विवेदी

(सन् १८७०-१९३८)

हमारा नाम दण्ड-देव है। पर हमारे जन्मदाता का कुछ भी पता नहीं। कोई कहता है कि हमारे पिता का नाम वंश या बाँस है। कोई कहता है, नहीं; हमारे पूज्यपाद पितृ-महाशय का नाम काष्ठ है। इसमें भी किसी-किसी का मतभेद है; क्योंकि कुछ लोगों का अनुमान है कि हमारे बाप का नाम बेत है। इसी से हम कह सकते हैं कि हमारे जन्मदाता का नाम निश्चय-पूर्वक कोई नहीं बता सकता। हम भी नहीं बता सकते। सबके गर्भधारिणी माता होती है, हमारे वह भी नहीं। हम तो जमींतोड़ हैं। यदि माता होती तो उससे पिता का नाम पूछकर आप पर अवश्य ही प्रकट कर देते। पर क्या करें, मजबूरी है। न बाप, न माँ। अपनी हुलिया यदि लिखाना चाहें तो कैसे लिखावें। इसका कारण हम सिर्फ अपना ही नाम बता सकते हैं।

हम राज-राजेश्वर के हाथ से लेकर दीन-दुर्बल भिखारी तक के हाथ में विराजमान रहते हैं। जराजीर्णों के तो एक मात्र अवलम्ब हमीं हैं। हम इतने समदर्शी हैं कि हममें भेद-ज्ञान जरा भी नहीं—धार्मिक—अधार्मिक, साधु-असाधु, काले-गोरे सभी का पाणिस्पर्श हम करते हैं। यों तो हम सभी जगह रहते हैं, परन्तु अदालतों और स्कूलों में तो हमारी ही तूती बोलती है। वहाँ हमारा अनवरत आदर होता है।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

संसार में अवतार लेने का हमारा उद्देश्य दुष्ट मनुष्यों और दुर्वृत्त बालकों का शासन करना है। यदि हम अवतार न लेते तो ये लोग उच्छृङ्खल होकर मही-मण्डल में सर्वत्र अराजकता उत्पन्न कर देते। दुष्ट हमें बुरा बताते हैं; हमारी निन्दा करते हैं; हम पर झूठे-झूठे आरोप करते हैं। परन्तु हम उनकी कटूक्तियों और अभिशापों की जरा भी परवा नहीं करते। बात यह है कि उनकी उन्नति के पदप्रदर्शक हमीं हैं। यदि हमीं उनसे रूठ जायँ तो वे लोग दिन-दहाड़े मार्ग भ्रष्ट हुए बिना न रहें।

विलायत के प्रसिद्ध पण्डित जानसन साहब को आप शायद जानते होंगे। ये वही महाशय हैं जिन्होंने एक बहुत बड़ा कोश, अंगरेजी में लिखा है और विलायती कवियों के जीवन-चरित, बड़ी-बड़ी तीन जिल्दों में भरकर, चरित-रूपिणी त्रिपथगा प्रवाहित की है। एक दफ़े यही जानसन साहब कुछ भद्र महिलाओं का मधुर और मनोहर व्यवहार देखकर बड़े प्रसन्न हुए। इस सुन्दर व्यवहार की उत्पत्ति का कारण खोजने पर उन्हें मालूम हुआ कि इन महिलाओं ने अपनी-अपनी माताओं के कठिन शासन की कृपा ही से ऐसा ऐसा भद्रोचित व्यवहार सीखा है। इस पर उनके मुँह से सहसा निकल पड़ा—

"Rod! I will honor thee
For this thy duty."

अर्थात् हे दण्ड, तेरे इस कर्तव्य-पालन का मैं अत्यधिक आदर करता हूँ। जानसन साहब की इस उक्ति का मूल्य आप कम न समझिये। सचमुच ही हम बहुत बड़े सम्मान के पात्र हैं; क्योंकि हमीं तुम लोगों के—मानव-जाति के—विधाता और नियन्ता हैं।

संसार की सृष्टि करते समय परमेश्वर को मानव-हृदय में एक उपदेष्टा के निवास की योजना करनी पड़ी थी। उसका नाम है विवेक। इस विवेक ही के अनुरोध से मानव-जाति पाप से धर-पकड़ करती हुई आज इस उन्नत अवस्था को प्राप्त हुई है। इसी विवेक की प्रेरणा से मनुष्य, अपनी आदिम अवस्था में हमारी सहायता से पापियों और अपराधियों का शासन करते थे।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

शासन का प्रथम आविष्कृत अस्त्र, दंड, हमीं थे। परन्तु कालक्रम से हम अब नाना प्रकार के उपयोगी आकारों में परिणत हो गये हैं। हमारी प्रयोग-प्रणाली में भी अब बहुत कुछ उन्नति, सुधार और रूपान्तर हो गया है।

पचास-साठ वर्ष के भीतर इस संसार में बड़ा परिवर्तन—बहुत उथल-पुथल—हो गया है। उसके बहुत पहले भी, इस विशाल जगत् में, हमारा राजत्व था। उस समय भी रूस में, आज-कल ही की तरह, मार-काट जारी थी। पोलैंड में यद्यपि इस समय हमारी कम चाह है, पर उस समय वहाँ-की स्त्रियों पर रूसी-सिपाही मनमान अत्याचार करते थे और बार-बार हमारी सहायता लेते थे। चीन में तब भी वंश दंड का अटल राज्य था। टर्की में तब भी दंडे चलते थे। श्यामवासियों की पूजा तब भी लाठी ही से की जाती थी। अफ़रीका से तब भी मम्बो-जम्बो (गैंड़े की खाल का हण्टर) अन्तर्हित न हुआ था। उस समय भी वयस्का भद्रमहिलाओं पर चाबुक चलता था। पचास-साठ वर्ष पहले, संसार में, जिस दण्ड शक्ति का निष्कण्टक साम्राज्य था, यह न समझना कि अब उसका तिरोभाव हो गया है। प्राचीन काल की तरह अब भी सर्वत्र हमारा प्रभाव जागरूक है। इशारे के तौरपर हम जर्मनी के प्रान्त में वर्त्तमान अपनी अखंड सत्ता का स्मरण दिलाये देते हैं। परन्तु वर्तमान वृत्तान्त सुनाने की अपेक्षा पहले हम अपना पुराना वृत्तान्त सुना देना ही अच्छा समझते हैं।

प्राचीनकाल में रोम-राज्य योरप की नाक समझा जाता था। दण्ड-दान या दण्ड विधान में रोम ने कितनी उन्नति की थी, यह बात शायद सब लोग नहीं जानते। उस समय हम तीन भाई थे। रोमवाले साधारण दण्ड के बदले कशा-दंड के तारतम्य के अनुसार हमारे भिन्न-भिन्न तीन नाम थे। इनमें से सबसे बड़े का नाम फ्लैगेलम (Flagellum) मंझले का सेंटिका (Sentica), और छोटे का फेरूला (Ferula) था। रोम के न्यायालय और वहाँ महिलाओं के कमरे हम इन्हीं तीनों भाइयों से सुसज्जित रहते थे। अपराधियों पर न्यायाधीशों की असीम क्षमता और प्रभुता

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

थी। अनेक बार प्रभु या प्रभु पत्नियाँ, दया के वशवर्ती होकर, हमारी सहायता से अपने दासों के दुःखमय जीवन का अन्त कर देती थीं। भोज के समय आमन्त्रित लोगों को प्रसन्न करने के लिए, दासों पर कशाघात करने की पूर्ण व्यवस्था थी। दासियों को तो एक प्रकार से नंगी ही रहना पड़ता था। वस्त्राच्छादित रहने से वे शायद कशाघातों का स्वादु अच्छी तरह न ले सकें। इसीलिए ऐसी व्यवस्था थी। यहीं पर तुम हमारे प्रभाव का कहीं अन्त न समझ लेना। दासियों को एक और भी उपाय से दंड दिया जाता था। छत की कड़ियों से उनके लम्बे-लम्बे बाल बाँध दिये जाते थे। छत में लटक जाने पर उनके पैरों से कोई भारी चीज बाँध दी जाती थी, ताकि पैर न हिला सकें। यह प्रबन्ध हो चुकने पर उनके अङ्गों की परीक्षा करने के लिए हमारी योजना होती थी। यह सुनकर शायद तुम्हारा दिल दहल उठा होगा और तुम्हारा बदन काँपने लगा होगा। पर हम तो बड़े ही प्रसन्न हैं कि ऐसा ही दंड दासों को भी दिया जाता था। परन्तु बालों के बदले उनके हाथ बाँधे जाते थे।

इससे तुम समझ गये होगे कि रोम की महिलाएँ हमारा कितना आदर करती थीं। परन्तु यह बात वहाँ के कर्तृपक्ष को असह्य हो उठी। उन्होंने कहा—इस दंड-देव का इतना आदर! उन्होंने हमारी इस उपयोगिता में विघ्न डालने के लिए कोई कानून बना डाले। सम्राट आड्रियन के राजत्वकाल में इस कानून को तोड़ने के अपराध में एक महिला को पाँच वर्ष का देश-निर्वासन दंड मिला था। अस्तु।

अब हम जर्मनी, फ्रांस, रूस, अमेरिका आदि का कुछ हाल सुनाते हैं। ध्यान लगाकर सुनिये। इन सब देशों के घरों, स्कूलों और अदालतों में भी पहले हमारा निश्चल राज्य था। इसके सिवा संस्कारघरों (Houses of Correction) में भी हमारी षोडशोपचार पूजा होती थी। इन संस्कारघरों अथवा चरित्र-सुधार-घरों में चरित और व्यवहार-विषयक दोषों का सुधार किया जाता था। अभिभावक जन अपनी दुश्चरित्रा स्त्रियां और

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

अधीनस्थ पुरुषों को इन घरों में भेज देते थे। वहाँ वे हमारी ही सहायता—हमारे ही आघात—से सुधारे जाते थे।

जर्मनी में तो हम पहले अनेक रूपों में विद्यमान थे। हमारे रूप थे कशादंड, वेत्रदंड, चर्म्मदंड आदि। कोतवालों और न्यायाधीशों को कशाघात करने के अखतियारात हासिल थे। संस्कार-घरों में हतभागिनी नारियों ही की संख्या अधिक होती थी। वहाँ बहुधा निरपराधिनी रमणियों को भी, दुष्टों के फन्दे में फँसकर, कशाघात सहने पड़ने थे। पहले वे नंगी कर डाली जाती थीं। तब उन पर बेंत पड़ते थे। जर्मन-भाषा के ग्रन्थ साहित्य में इस कशाघात का उल्लेख सैकड़ों जगह पाया जाता है।

फ्रांस में भी हमने मनमाना राज्य किया है। वहाँ के विद्यालयों में, किसी समय, हमारा बड़ा प्रभाव था। विद्यालयों में कोमल कलेवरा बालिकाओं को भी हमें चूमना पड़ता था। यहाँ तक कि उन्हें हमारा प्रयोग करनेवालों का अभिवादन भी करना पड़ता था। फ्रांस में तो हमने पवित्र हृदया कामिनियों के कर-कमलों को भी पवित्र किया था। आपको इस बात का विश्वास न हो तो एक प्रमाण लीजिये। "रोमन डि-लारोज़" नामक काव्य में कविवर क्लपिनेले ने स्त्रियों के विरुद्ध चार सतरें लिख मारी हैं। उनका भावार्थ कवि पोप के शब्दों में है—

"Every woman is at heart a rake" इस उक्ति को सुनकर कुछ सम्माननीय महिलाएँ बेतरह कुपित हो उठीं। एक दिन उन्होंने कवि को अपने कब्जे में पाकर उसे सुधारना चाहा। तब यह देख कर कि इनके पञ्जे से निकल भागना असम्भव है, कवि ने कहा—"मैंने जरूर अपराध किया है अतएव मुझे सजा भोगने में कुछ भी उज्र नहीं। पर मेरी एक प्रार्थना है। वह यह कि उस उक्ति को पढ़ कर जिस महिला को सबसे अधिक बुरा लगा हो वही मुझे पहले दण्ड दे"। इसका फैसला कोई स्त्री न कर सकी। फल यह हुआ कि कवि पिटने से बच गया।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

रूस में भी हमारा आधिपत्य रह चुका है। वहाँ तो सभी प्रकार के अपराध करने पर साधारण दण्ड या कशादण्ड से प्रायश्चित कराया जाता था क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या बालक क्या वृद्ध, क्या राजकर्मचारी क्या साधारण जन सभी को, अपराध करने पर, हमारा अनुग्रह ग्रहण करना पड़ता था। किसान तो हमारी कृपा के सबसे अधिक पात्र थे। उन पर तो जो चाहता था वही, निःशङ्क और निःसङ्कोच, हमारा प्रयोग करता था। हमारा प्रसाद पाकर वे बेचारे चुपचाप चल देते थे और अपना क्रोध अपनी पत्नियों और पशुओं पर प्रकट करते थे। रूस के अमीरों और धनवानों से हमारी बड़ी ही मित्रता थी। दोष-दमन करने में वे सिवा हमारे और किसी की भी सहायता, कभी भूलकर भी, न लेते थे। उनका ख्याल था कि अपराधियों को अधमरा करने के लिए ही भगवान ने हमारी सृष्टि की है।

रूस में तो, पूर्वकाल में, दण्डाघात प्रेम का भी चिन्ह माना जाता था। विवाहित बधुएँ अपने पतियों से हमीं को पाने के लिए सदा लालायित रहती थीं। यदि स्वामी बीच-बीच में अपनी पत्नी का, दण्ड-दान-नामक आदर न करता तो पत्नी समझती कि उसके स्वामी का प्रेम उस पर कम होता जा रहा है। यह प्रथा केवल नीच या छोटे लोगों ही में प्रचलित न थी बड़े-बड़े घरों में भी इसका पूरा प्रचार था। बर्कले नाम के लेखक ने लिखा है कि रूस में दण्डाघातों की न्यूनाधिक संख्या ही से प्रेम की न्यूनाधिकता की माप होती थी। इसके सिवा स्नानागारों में भी हमारा प्रबल प्रताप छाया हुआ था। स्नान करनेवालों का समस्त शरीर हमारे अनुग्रह का पात्र बनाया जाता था। स्टिफेंस साहब ने इसका विस्तृत विवरण लिख रक्खा है। विश्वास न हो तो उनकी पुस्तक देख लीजिये।

हमारे सम्बन्ध में तुम अमेरिका को पिछड़ा हुआ कहीं मत समझ बैठना। वहाँ भी हमारा प्रभाव कम न था। बालकों और बालिकाओं का गार्हस्थ्य जीवन वहाँ हमारे ही द्वारा नियन्त्रित होता था। प्यूरिटन नाम के क्रिश्चियन-धर्मसम्प्रदाय के अनुयायियों के प्रभुत्व के समय लोगों को बात-बात

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

में कशाघात की शरण लेनी पड़ती थी। क्वेकर संप्रदाय को देश से दूर निकालने में अमेरिका के निवासियों ने हमारी खूब ही सहायता ली थी। हमारा प्रयोग बड़े ही अच्छे ढङ्ग से किया जाता था। काठ के एक तख्ते पर अपराधी बाँध दिया जाता था। फिर उस पर सड़ासड़ बेंत पड़ते थे।

अफ़रीका की तो कुछ पूछिये ही नहीं। वहाँ तो पहले भी हमारा अखण्ड राज्य था और अब भी है। यही एक देश ऐसा है जिसने हमारे महत्त्व को पूर्णतया पहचान पाया है। बच्चों की शिक्षा से तो हमारा बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ के लोगों का विश्वास था कि हमारा आगम स्वर्ग से हुआ है और हम ईश्वर के आशीर्वादरूप हैं। हम नहीं, तो समझना चाहिये कि परमेश्वर ही रूठा है। मिस्रवाले तो इस प्रवाद पर आँख-कान बन्द करके विश्वास करते थे। वहाँ के दीनवत्सल महीपाल प्रजावर्ग को इस आशीर्वाद का स्वाद बहुधा चखाया करते थे। इस राज्य में बिना हमारी सहायता के राज-कर वसूल होना प्रायः असम्भव था। मिस्र के निवासी राजा का प्राप्य अंश, कर, अदा करना चाहते थे। इस कारण हमें उन पर सदा ही कृपा करनी पड़ती थी। उनकी पीठ पर हमारे जितने ही अधिक चिन्ह बन जाते थे वे अपने को उतने ही अधिक कृतज्ञ या कृतार्थ समझते थे।

अफ़रीका की असभ्य जातियों में स्त्रियों के ऊपर हमारा बड़ा प्रकोप रहता था। ज्योंही स्वामी अपनी स्त्री के सतीत्व-रत्न को जाते देखता था त्योंही वह हमारी पूर्ण तृप्ति करके उस कुलकलङ्किनी को घर से निकाल बाहर करता था। कभी-कभी स्त्रियाँ भी हमारी सहायता से अपने-अपने स्वामियों की यथेष्ठ खबर लेती थीं। अफ़रीका के पश्चिमी प्रान्तों में यद्यपि बालक बालिकाओं पर हमारा विशेष प्रभाव न था तथापि उन्हें हम से अधिक प्रभावशाली व्यक्तियों का सामना करना पड़ता था। नटखट और दुष्ट लड़कों और लड़कियों की आँखों में लाल मिर्च मल दी जाती थी। वे बेचारे इस योजना का कष्ट सहन करने में असमर्थ होकर घंटों छटपटाते और चिल्लाते थे।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

वयस्कों को तो इससे भी अधिक यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं। वे पहले पेड़ों की डालों से लटका दिये जाते थे। फिर वे खूब पीटे जाते थे। देह लोहू-लोहान हो जाने पर उस पर सर्वत्र लाल मिर्च का चूर्ण मला जाता था। याद रहे, ये सब पुरानी बातें हैं। आजकल की बातें हम नहीं कहते; क्योंकि हमारे प्रयोग में यद्यपि इस समय कुछ-परिवर्तन हो गया है, तथापि कार्यक्षेत्र घटा नहीं, बढ़ा ही है।

तुम्हारे एशिया-खण्ड में भी हमारा राज्य दूर-दूर तक फैल रहा है। एशिया कोचक (एशिया माइनर) के यहूदियों में, किसी समय, हमारी बड़ी धाक थी। वहाँ हमारा प्रताप बहुत ही प्रबल था। ईसाई-धर्म्म फैलाने में सेंटपाल नामक धर्माचार्य्य ने बड़े-बड़े अत्याचार सहे हैं। वे ४६ दफ़े कशाहत और ३ दफ़े दण्डाहत हुए थे। बाइबिल में हमारे प्रयोग का उल्लेख सैकड़ों जगह आया है।

यहूदियों की तरह पारसियों में भी हमारा विशेष आदर था। क्या धनी, क्या निर्धन सभी को, यदा-कदा, डन्डों की मार सहनी पड़ती थी। यह चाल बहुत समय तक जारी रही। तदनन्तर वह बदल गयी तब माननीय मनुष्यों के शरीर की जगह उनके कपड़ों पर कोड़े लगाये जाने लगे।

चीन में तो हमारा आधिपत्य एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैला हुआ था। ऐसा एक भी अपराधी न था जिसे सज़ा देने में हमारा प्रयोग न होता रहा हो। उच्च राज-कर्म्मचारियों से लेकर दीन दुखी भिखारियों तक को, अपराध करने पर हमारे अनुग्रह का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से करना पड़ता था। डन्डे की मार खाने में, उस समय चीनी लोग अपना अपमान न समझते थे। हाँ हमारे कृपा-कटाक्ष से उन्हें जो यन्त्रणा भोगनी पड़ती थी उसे वे जरूर नापसन्द करते थे। बड़े-बड़े सेना-नायक और प्रान्तशासक हमारे कठोर अनुग्रह को प्राप्त करके भी अपने उच्च पदों पर प्रतिष्ठित रहते थे। चीन में अपराधियों ही तक हमारे कोप की सीमा बद्ध न थी। कितने ही निरपराध जन भी हमारे स्पर्श-सुख का अनुभव करके ऐसे गद्गद हो

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

जाते थे कि फिर जगह से उठ तक न सकते थे। हमारी पहुँच बहुत दूर-दूर तक थी। चोरों, डाकुओं और हत्यारों आदि को जब कोतवाल और पुलिस के अन्य प्रतापी अफ़सर न पकड़ सकते थे तब वे हमारी शरण आते थे। उस समय हम उन पर ऐसा प्रेम दरसाते थे कि उछल-उछलकर उनकी देह पर जा पड़ते थे। चीन की पुरानी अदालतों में जितने अभियुक्त और गवाह आते थे वे बहुधा बिना हमारा प्रसाद पाये न लौट सकते थे।

चतुर और चाणाक्ष चीन के अद्भुत कानून की बात कुछ न पूछिये। वहाँ अपराध के लिए अपराधी ही ज़िम्मेदार नहीं। इसके दूरतक के सम्बन्धी भी ज़िम्मेदार समझे जाते थे। जो लोग इस ज़िम्मेदारी का ख़याल न करते थे उन्हें स्वयं हम पुरस्कार देते थे। चीन में एक सौ परिवारों के पीछे एक मण्डली की स्थापना होती थी। उसकी ज़िम्मेदारी भी कम न होती थी। अपने फ़िरके के सौ कुटुम्बों का यदि कोई व्यक्ति कोई अपराध करता तो उसके बदले में मण्डल सज़ा पाता था। देव-सेवा के लिए रक्खे गये शूकर-शावक यदि बीमार या दुबले हो जाते तो प्रतिशावक के लिए तत्त्वावधायक पर पचास डण्डे लगते थे।

चीन की विवाह-विधि में भी हमारी विशेष प्रतिपत्ति थी। पुत्र-कन्या की सम्मति लिये बिना ही उनका पहला पाणिग्रहण कराने का अधिकार माता-पिता को प्राप्त था। परन्तु दूसरा विवाह वे न करा सकते थे। यदि वे इस नियम का उल्लङ्घन करते तो उन पर तड़ातड़ अस्सी डण्डे पड़ते थे। विवाह सम्बन्ध स्थिर करके यदि कन्या का पिता उसका विवाह किसी और वर के साथ कर देता तो उसे भी अस्सी डण्डे खाने पड़ते। जो लोग अशौच-काल में विवाह कर लेते थे उनकी पूजा पूरे एक सौ दण्डाघातों से की जाती थी। स्वामी के जीवन-काल ही में जो रमणियाँ सम्राट् द्वारा सम्मानित होतीं, वे, विधवा होने पर, पुनर्विवाह न कर सकती थीं। यदि कोई अभागिनी इस क़ानून को तोड़ती तो उसे पुरस्कृत करने के लिए हमें सौ बार उसके कोमल कलेवर का चुम्बन करना पड़ता।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

ये हुईं पुरानी बातें। अपना नया हाल सुनाना हमारे लिए, इस छोटे से लेख में असम्भव है। अब यद्यपि हमारे उपचार के ढंग बदल गये हैं और अधिकार-क्षेत्र कहीं-कहीं सङ्कुचित हो गया है, तथापि हमारी पहुँच नयी-नयी जगहों में हो गयी है। आजकल हमारा आधिपत्य केन्या, ट्रांस्वाल, केपकालनी आदि विलायतों में सबसे अधिक है। वहाँ के गोरे कृषक हमारी ही सहायता से हब्शी और भारतवर्षी कुलियों से बारह-बारह सोलह-सोलह घण्टे काम कराते हैं। वहाँ काम करते-करते, हमारा प्रसाद पाकर, अनेक सौभाग्यशाली कुली, समय के पहले ही स्वर्ग सिधार जाते हैं। फीजी, जमाईका, गायना, मारिशश आदि टापुओं में भी हम खूब फूल-फल रहे हैं। जीते रहें गन्ने की खेती करनेवाले गौरकाय विदेशी। वे हमारा अत्यधिक आदर करते हैं; कभी अपने हाथ से हमें अलग नहीं करते। उनकी बदौलत ही हम भारतीय कुलियों की पीठ, हाथ आदि अङ्गप्रत्यङ्ग छू छूकर कृतार्थ हुआ करते हैं—अथवा कहना चाहिये कि हम नहीं, हमारे स्पर्श से वही अपने को कृतकृत्य मानते हैं। अण्डमन टापू के कैदियों पर भी हम बहुधा जोर-आजमाई करते हैं। इधर भारत के जेलों में भी, कुछ समय से, हमारी विशेष पूछ-पाछ होने लगी है। यहाँतक कि एम० ए० और बी० ए० पास कैदी भी हमारे संस्पर्श से अपना परित्राण नहीं कर सकते। कितने ही असहयोगी कैदियों की अक्ल हमीं ने ठिकाने लगायी है।

हम और सब कहीं की बातें तो बता गये, पर इंगलैंड के समाचार हमने एक भी नहीं सुनाये। भूल हो गयी। क्षमा कीजिये। खैर तब न सही अब सही। सूद में अब हम भारतवर्ष का भी कुछ हाल सुना देंगे। सुनिये—

लक्ष्मी और सरस्वती की विशेष कृपा होने से इंगलैंड अब उन्नत और सभ्य हो गया है। ये दोनों ठहरीं स्त्रियाँ। और स्त्रियाँ बलवानों ही को अधिक चाहती हैं, निर्बलों को नहीं। सो बलवान् होना बहुत बड़ी बात है। सभ्यता और उन्नति का विशेष आधार पशुबल ही है। हमारी इस उक्ति को सच समझिये और गाँठ में मजबूत बाँधिये। सो सभ्य और समुन्नत होने के

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

कारण इंगलैंड में अब हमारा आदर कम होता जाता है। जिस पर भी कशादण्ड का प्रचार वहाँ अब भी खूब है। कोड़े वहाँ अब भी खूब बरसते हैं। वहाँ के विद्यालयों में हमारी इस मूर्त्ति की पूजा बड़े भक्ति-भाव से होती है। हमारा प्रभाव घोड़े की पीठ पर जितना देखा जाता है उतना अन्यत्र नहीं। इसके सिवा सेना में भी हमारा सम्मान अभीतक थोड़ा-बहुत बना हुआ है।

भारतवर्ष में तो हमारा एकाधिपत्य ही सा है। भारत अपाहज है। इसीलिए भारतवासी हमारी मूर्त्ति को बड़े आदर से अपनी छाती से लगाये रहते हैं। वे डरते हैं कि ऐसा न हो जो कहीं धन-मान की रक्षा का एक-मात्र बचा-खुचा यह साधन भी छिन जाय। इसी से हम-पर उन लोगों का असीम प्रेम है। भारतवासी असभ्य और अनुन्नत होने पर भी विलासप्रिय कम हैं। इसीलिए वे ऋषियों और मुनियों द्वारा पूजित हम दण्डदेव के आश्रय में रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं। शिक्षकों का बेंत या क़मची, सवारों का हण्टर, कोचमैनों का चाबुक, गाड़ीवानों की औंगी या छड़ी, शुहदों के लट्ठ, शौकीन बाबुओं की पहाड़ी लकड़ी, पुलिसमैनों के डण्डे, बूढ़े बाबा की कुबड़ी, भँगेड़ियों के भवानी-दीन और लठैतों की लाठियाँ आदि सब क्या हैं? ये सब हमारे ही तो रूप हैं। ये सभी शासन-कार्य में सहायक होते हैं। भारत में ऐसे हजारों आदमी हैं जिनकी जीविका के आधार एक-मात्र हम हैं। थाना नाम के देवस्थानों में हमारी ही पूजा होती है। हमारी कृपा और सहायता के बिना हमारे पुजारी (पुलिसमैन) एक दिन भी अपना कर्तव्यपालन नहीं कर सकते। भारत में तो एक भी पहले दरजे का मैजिस्ट्रेट ऐसा न होगा जिसकी अदालत के अहाते में हमारे उपयोग की योजना का पूरा-पूरा प्रबन्ध न हो। जेलों में भी हमारी शुश्रूषा सर्वदा हुआ करती है। इसी से हम कहते हैं कि भारत में तो हमारा एकाधिपत्य है। पाठक, हम नहीं कह सकते कि हमारा चारु चरित सुनकर आप भी मुग्ध हुए या नहीं। कुछ भी हो, हमने अपना कर्तव्य कर दिया। आप प्रसन्न हों या न हों, पर इससे हम कितने प्रसन्न हैं, यह हम लिख नहीं सकते।

---

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

परीक्षा

माधवप्रसाद मिश्र

(सन् १८७१-१९०७)

वह बड़भागी धन्य है। जिसका कभी इस तीन अक्षर के शब्द से काम न पड़े, अपना भरम लिए हुए मुंदी भलमंशी के साथ जीवन के दिन पूरे कर दे। परीक्षा वह चीज है जिसके नाम से बड़े-बड़े देवता और ऋषि मुनि भी काँप उठे हैं। हमारे जैसे साधारण मनुष्यों की सामर्थ्य ही कितनी है जो इसके सामने पैर जमा सकें।

परीक्षा कितनी बुरी बला है, इस बात को महाशय अच्छी तरह जान सकते हैं। जिनको किसी विद्यालय में परीक्षा देने का अवसर मिला हो। जरा उस समय का स्मरण तो कीजिए जब परीक्षा के दिन नजदीक आ जाते थे। दिन रात कितने श्रम से पढ़ते तथापि चित्त को संतोष नहीं होता था, जी में यही खटका बना रहता कि कहीं फेल न हो जायँ, खाते-पीते, सोते-जागते सर्वदा एक उसी विषय का ध्यान रहता और चित्त पर वही चिन्ता चढ़ी रहती। जो विद्यार्थी देवी-देवताओं की दिल्लगी किया करते वे भी उस समय मन ही मन उन्हीं की मनौती मानते थे। कोई पण्डित के पास दौड़ा जाता और कोई ज्योतिषी जी के चरण छूता था जैसे उनपर कोई बड़ी भारी विपत्ति आ रही है। सब यही कहते थे कि देखें—परमात्मा क्या करता है।

सचमुच परीक्षा ऐसी ही भयानक है। "स्वर्णकार ने स्वर्ण जब दियो अग्नि में डाल। काँप उठ्यो पानी भयो देख परीक्षा काल।" एक उर्दू

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

के कवि का यह कहना कितना अच्छा है कि 'इस शर्त पर जो लीजे तो हाजिर है दिल अभी। रंजिश न हो फरेब न हो इम्तिहां न हो।' तात्पर्य यह है कि परीक्षा सबके दिल में खटकती है, प्यारी किसी को नहीं लगती।

ईसाइयों की प्रार्थना में एक वाक्य है, जिसका यह भाव है कि "ईश्वर! तू हमें परीक्षा में न डाल वरञ्च बुराई से बचा!" भक्तकुल चूड़ामणि प्रह्लाद जी ने भी भगवान् नृसिंहदेव से यही प्रार्थना की थी कि दयासिन्धो! संसार के जीवों पर दया करना, परीक्षा न करना।" क्योंकि वे भली भाँति जानते थे कि जब मनुष्य का, मनुष्य कृत परीक्षा ही में उत्तीर्ण होना कठिन है, तो ईश्वरीय परीक्षा में उत्तीर्ण होना कितना दुर्घट व्यापार है। जगत् में कितने ऐसे पुरुष हैं, जो परीक्षा के समय उनके समान सहर्ष जलती हुई अग्नि में प्रवेश करें, पर्वत की सबसे ऊँची चोटी से कूद पड़े, सिरपर चमकती हुई तलवार से कम्पित न हो दयामूर्ति अश्रुमुखी जननी में जिनका मोह न हो और काल सर्पवत् प्राण हन्ता पिता से जिन्हें भय न हो?

परीक्षा यदि इतनी भयानक वस्तु है कि सबलोग उससे डरते हैं तब कृपालु परमात्मा की सृष्टि में इसकी आवश्यकता ही क्या थी? पर देखते हैं कि इसकी बड़ी भारी आवश्यकता थी और है। ईश्वरीय परीक्षा की बातें जाने दीजिए, वे जब तक पाप सम्भव मनुष्यों की विशेष कर आज कल के हिन्दुओं की परीक्षा न करें तभी तक मंगल है, अब हमारा वह समय नहीं है जब हममें प्रह्लाद जैसे भक्त और हरिश्चन्द्र जैसे महाराज विराजमान थे। हम नारकी जीव अब उनकी परीक्षा में कितनी देर ठहर सकते हैं? हाँ, यदि सबलोग परस्पर में सच्चे होते, तो परीक्षा का कुछ काम न पड़ता। परन्तु जब सबका वैसा व्यौहार नहीं है और इस त्रिगुणमयी सृष्टि में तीन काल में वैसा होना असम्भव है, तब कैसे कहा जाय कि परीक्षा की आवश्यकता नहीं है।

संसार छल-छिद्र से भरा है। जिधर देखो उधर धोखे की टट्टी और

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

आडम्बर का ठाठ दिखाई देगा। ऐसी अवस्था में यदि परीक्षा से काम न लिया जाय तो क्या किया जाय? बहुधा देखा गया है कि कपटमूर्ति चतुर चूड़ामणि लोग ही बहुत मधुर भाषण और शिष्टाचार प्रदर्शन करते हैं। अल्पज्ञ पुरुष ही 'बड़ा धोता बड़ा पोथा पण्डिता पगड़ा बड़ा' का उदाहरण बनते हैं। निर्गन्ध कुसुम ही अधिक रङ्गीला होता है। नया मुसलमान ही 'अल्ला अल्ला' पुकारता है। भूला पाण्डेय ही दूनी सन्ध्या किया करता है और अधर्म्मात्मा ही धर्म्मध्वजी बनता है। इसीलिए संसार में परीक्षा के बिना काम चलना कठिन है।

औरों को चाहे जैसी लगे पर हमारे शास्त्रकारों को तो परीक्षा बड़ी प्यारी लगती थी। परीक्षा बिना अध्ययनाध्यापन नहीं होता था और न गुरु-शिष्य का सम्बन्ध ही स्थिर होता था। श्रुति कहती है कि "परीक्ष्य लोकान् कर्म्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायाति" अर्थात् विरक्त पुरुष परीक्षा से संसार को विनाशी जानकर संयासी होता है। "न्यायदर्शन" में तो परीक्षा का मानों डंका बज रहा है। महर्षि गौतम प्रत्येक पदार्थ का लक्षण कर फिर उसकी परीक्षा करते हैं—

"लक्षितस्य इदं लक्षणं सम्भवति न वा"

अर्थात् लक्षित पदार्थ का यह लक्षण हो सकता है कि नहीं—इस प्रकार के विचार पूर्वक परीक्षा की हैं। हमारे महर्षि लोग जब ईश्वर और अपौरुषेय वेद तक की परीक्षा किए बिना नहीं रहे तो हम अपने को परीक्षा से बचावें—इसका क्या अर्थ? स्मरण रखना चाहिए—एक दिन न एक दिन हमको विश्वपति के परीक्षा-मंदिर में अवश्य जाना पड़ेगा, पर वहाँ से उत्तीर्ण होना न होना यह सब हमारे कर्म्माधीन है। हाँ यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की बुद्धि अल्प है अतः प्रत्येक विषय की परीक्षा में उसका सफल काम होना सम्भव नहीं तो फिर परीक्षा की उलझन में पड़ना ही क्यों? इसका सीधा उत्तर यही है कि पूर्ण काम या परीक्षक ही सब विषयों की परीक्षा में कृतार्थ हो सकता है पर उस पद तक पहुँचने

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

का यही श्रेष्ठ सरल मार्ग है कि जिससे जितना निश्चय हो सके उतना ही परीक्षा से काम लें। जो जितना परीक्षक होगा उतना ही वह अन्धकूप से बचेगा। जो पुरुष अपने इष्टमित्र बन्धुओं की यथासाध्य परीक्षा किए रहता है, वह कभी धोखा नहीं खाता और जो केवल अन्धविश्वास का आग्रही है, अवश्य उसे एक दिन अपने कार्य्य पर पश्चात्ताप करना पड़ता है। इसीलिए पुराने लोगों ने कहा है कि "गुरू कीजै जान कर पानी पीजै छान कर"।

जिनका यह सिद्धान्त है कि इस असार संसार में ईश्वर ने हमें परीक्षा के लिए भेजा है और वह हमारे प्रत्येक कार्य की परीक्षा करता है उन्हें फिर संसार में कोई डर ही नहीं है। वे चाहे सहस्रबार परीक्षा में पड़ें किन्तु प्रहलाद के समान सदा ही उत्तीर्ण होंगे। उनका कोई बाल भी बाँका न कर सकेगा। क्योंकि जिस पुरुष का यह विश्वास है कि परमात्मा सर्वव्यापक है और वह विश्वास "विश्वतश्चक्षु" सर्वत्र हमारे कामों को देख रहा है। ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहाँ उसकी दृष्टि को बचा कर पाप कर्म्म किया जाय, उससे क्या फिर कोई दुष्कर्म्म हो सकता है? जब कोई दुष्कार्य नहीं, पाप का संशय नहीं तो फिर परीक्षा में भय किस बात का है?

और यदि परमात्मा की सत्ता पर तुम्हारा विश्वास नहीं है, लोगों की दृष्टि में तुम पूरे धर्मात्मा बन रहे हो, तो स्मरण रहे, तुम्हारे पाप चाहे जितने गुप्त हों और तुम चाहे जितने प्रतापी और बलशाली हो, तथापि एक दिन न एक दिन परीक्षा की प्रचण्ड आँच से तुम्हारी कलई खुलकर ही रहेगी "अंतः प्रच्छन्न पापानां शास्ता वैवस्वतो यमः।" परीक्षा कड़वी है सही, पर 'परिणामेऽमृतोपमा' अवश्य है। परीक्षा के ही प्रताप से संसार में श्रमशाली और चरित्रवान लोगों का आदर हो रहा है। यह परीक्षा ही की महिमा है कि जो विद्यार्थी केवल अपने रंग रूप और वाचालता के कारण छात्र समाज के नेता बने हुए थे, अपना सा मुँह लेकर पीछे पड़े रह गए और जो विचारे होनहार परिश्रमी बालक अर्थाभाव से किसी गिनती ही में

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

न थे वे सबके मुखिया बन बैठे। जो हो; इसमें सन्देह नहीं कि परीक्षा में पड़ना बड़ा ही कठिन कार्य है पर यदि कोई माई का लाल इससे उत्तीर्ण हो जाता है तो फिर उसके आनन्द की सीमा भी नहीं है।

परीक्षा में भय उसे है जो खोट से भरा हो। जिसे निश्चय हो कि उसके पास शुद्धता का लेश नहीं है। अतः भगवद्भक्त और तत्त्वज्ञ को डर क्या है? परीक्षार्थ अग्नि में तपाये जाने पर वही सुवर्ण जलता और घटता है जिसमें खोट भरा है और नहीं तो साँच को आँच ही क्या है? वरञ्च यह कहना चाहिए कि स्वर्ण सदा ही सुवर्ण है, वह कभी नहीं जलता। जलता वही है जो जलने के योग्य है और जो सुवर्ण के असली रूप को बिगाड़ रहा है। शुद्ध सुवर्ण को कोई चाहे जितना तपा देखे वह न रत्ती भर घटेगा और न रत्ती भर जलेगा और न कुछ उसकी असलीयत ही में फर्क आयेगा वरञ्च तपाने से दूना दमकने लगेगा। पर हाँ सुवर्ण के नाम से बिकने वाले पित्तल को सदा भय है।

हमारे पूर्वज सुवर्ण के समान थे। परीक्षा उनकी प्यारी वस्तु थी। परीक्षा के लिए वे सर्वदा सन्नद्ध रहते थे। परीक्षा से उनका प्रताप कुछ ह्रास नहीं, वरञ्च वृद्धि को प्राप्त हुआ। हरिश्चन्द्रादि की यदि परीक्षा न हुई होती तो उनके चरित्र में औरों से विशेषता ही क्या थी? इस परीक्षा के कारण ही तो उनका इतना आदर हो रहा है। "सिसोदिया वंश" क्षत्रियों में ही नहीं वरञ्च सम्पूर्ण हिन्दुओं में किसलिए पवित्र समझा जाता है। इसीलिए कि वह कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुका है। परीक्षा के समय यदि "चित्तौड़" निज गौरव को नष्ट कर देता, तो आज उसकी मृत्यु का—नहीं नहीं, उसके अमरत्व का चिह्न (७४॥) हिन्दुओं की चिट्ठियों पर दिखलाई न देता। इस समय भी जो चरित्रवान हैं और इस कारण से सताये जा रहे हैं कि वे अपने समाज और स्वजातियों के हित साधन में निरत है। सतानेवाले देखें कि उनका सताने से हो क्या गया? परीक्षा की अग्नि से वे और प्रचण्ड हो गए! हिन्दू समाज में उनकी अधिकतर प्रतिष्ठा हुई।

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

हमारे साहित्य की विशेषताएँ

श्यामसुन्दरदास

(सन् १८७५-१९४५)

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता, उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिये, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात प्रतिघात दिखाये गये हैं; पर सबका अवसान आनंद में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना संबंध नहीं है, जितना भविष्य संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ यूरोपीय ढंग के दुःखांत

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

नाटक इसीलिए देख पड़ते हैं। यदि आजकल दो चार नाटक ऐसे देख भी पड़ने लगे हैं, तो वे भारतीय आदर्श से दूर और यूरोपीय आदर्श के अनुकरण-मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए, यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके अवलंबों की इति-श्री हो चुकी थी; पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महा-कवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

"भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितई है।
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुनावारि भूमि भिजई॥
राम-राज भयो काज सगुन सुभ राजाराम जगत विजई है।
समरथ बड़ो सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥"

आनन्द की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अनुभूति आनन्द की कल्पना में मानों नाच उठता है। हिंदी साहित्य के विकास का समस्त-युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था; परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वय का कभी निरादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिंदी-कवियों में यद्यपि पश्चिमीय आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों को देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की सम्भावना हो रही है; परन्तु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं, तब उनमें भी साहित्य की भाँति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्त्ति उस समय की है जब वे छह महीने की कठिन साधना के उपरान्त अस्थि-पंजर मात्र ही रहे होंगे, पर मूर्त्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार कि आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शनशास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं, सत्य हैं, चेतन हैं, तथा आनन्द-स्वरूप हैं। बन्धन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानव-जीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धान्त का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वयवाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है; अतः केवल अध्यात्मपक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे सहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन-संबंधी गहन तथा गंभीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार अधिक नहीं

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु-गम्भीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष-भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं, परन्तु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई; परंतु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित-सी हो गई है। हिन्दी की चरम सीमा उन्नति का काल भक्तिकाव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस रस तथा सुन्दर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है; परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक दोष रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दीसाहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं— एक तो साम्प्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा 'कृष्ण' का आधार लेकर की हुई हिन्दी की श्रृङ्गारी कविताओं के रूप में। हिन्दी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहों" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं, तो कम से कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही; सांप्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली में कोरे उप-देशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण को आलम्बन मानकर हमारे भृङ्गारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला, वह समाज के लिए हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं; पर फिर भी हम वस्तुस्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार भी शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो; पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी-सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में भी अंतर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबीरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इङ्गलैंड तथा आयरलैंड जैसे जलावृत द्वीप हैं तो चीन जैसा-विस्तृत भूखण्ड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से संबंध होता है। इसी को हम साहित्य की देशगत विशेषताएँ कहते हैं।

भारत की शस्यश्यामला भूमि में जो निसर्गसिद्ध सुषमा है। उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य-मात्र के लिए आकर्षक होती हैं; परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानववृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़-से लम्बे-लम्बे पेड़ों में ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं, तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना करते हैं; परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है,

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसन्त श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं, उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौन्दर्य तो क्या, हाँ उल्टे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है; वे हरे-भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण कर तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति से संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं यथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत-भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौंदर्यज्ञान उच्चकोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखण्ड भूमण्डल तथा असंख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-शशि; अथवा जल-वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं उनकी सृष्टि, संचालन आदि के सम्बन्ध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं। काव्य-जगत में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल-सकता; अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में न पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद कह सकते हैं। और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परन्तु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से

oal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचार-धारा के कारण हिन्दी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं; परन्तु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोहर दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदय-ग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनो-वृत्तियों का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-संघटन अथवा छंद-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से ही नहीं; प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अंतर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं; परन्तु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में प्रथम पुरुष एक वचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रगट करते हैं।

अंगरेजी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए हैं; परन्तु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यञ्जन होता है, केवल अभिव्यञ्जन के ढंग में अन्तर रहता है। एक में वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किए जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि वर्णनात्मक काव्य अधिक है तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीति-काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीतशास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्य-रचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर मात्रिक अथवा लघु मात्रिक आदि छंद समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है; परन्तु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इनपर यहाँ विचार करना संभव नहीं और दूसरे इनका संबंध साहित्य के इतिहास से उतना पृथक् नहीं है, जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती; क्योंकि सब बातें थोड़े बहुत अन्तर से प्रत्येक देश के साहित्य में पायी जाती हैं।

———

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

आचरण की सभ्यता

पूर्ण सिंह

(सन् १८८१-१९३१)

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिल पर अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र कला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनानेवाले के सामने नये कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघंटु शुद्ध श्वेत पत्रोंवाला है। इसमें नाम मात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्याचरण की भासा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

न काला, न नीला, न पीला, न सुफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बेनाम, बेनिशान, बेमकान—विशाल आत्मा के आचरण से मौनरूपिणी सुगन्धि सदा प्रसारित हुआ करती है। इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाती है। तीक्ष्ण गरमी से जले-भुने व्यक्ति आचरण के बादलों की बूँदा-बाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरद्ऋतु से क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगन्धमय अटल वसन्तऋतु के आनन्द का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भींग जाते हैं। आचरण के आनन्द-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नए-नए विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं, सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नए नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, पात, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्य-भाषा और क्या अन्य देश की भाषा—सब की सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी में सुन्दरता पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चन्द्रमा की मन्द मन्द हँसी का—तारागण के कटाक्ष-पूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो, सूर्यास्त होने के पश्चात्, श्रीकेशवचन्द्र सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने सारी रात, एक क्षण की तरह,

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

गुजार दी; यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण प्रभाव, शील, अचल स्थितिसंयुक्त आचरण—न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है; न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न इंजील से, न कुरान से, न धर्मचर्चा से, न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर, प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मन्द मन्द चोटों की तरह, आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अतिसुन्दर, अति ऊँचा और गौरवान्वित मालूम होता है, परन्तु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो, डुबोकर और उनको अपने विचित्र हथौड़ों से सुडौल कर करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश वाला मन्दिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में धूल डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनन्त काल लगा है। पृथ्वी बन गई, सूर्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे, परन्तु अभी तक आचरण के सुन्दर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण प्राप्ति की इच्छा रखने वाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश में रहनेवालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी हैं, परन्तु इतना काल

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न-भिन्न जातियों को संस्कृत भाषा न बुला सके—न समझा सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरु-मंत्र फूँक सकता है। केवल ऋषि के अन्तःकरण में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय परन्तु साहित्य और शब्द गोलंदाजी और आँधी से उसके सिर का एक बाल तक बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पँखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय; जल की शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शान्त हो जायँ; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय; सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जायँ—परन्तु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में पंडितों के लिए रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत ज्ञान-हीन पुरुषों के लिए स्टीम इंजन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें कि व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्मचर्चा द्वारा कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मठ और हर मसजिद में होते हैं, परन्तु उनका प्रभाव हम पर तभी पड़ता है जब गिरजे का पादड़ी स्वयं ईसा होता—मन्दिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है—मसजिद का मुल्ला स्वयं पैगंबर और रसूल हो।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिए—चाहे वह कन्या किसी जाति की हो, किसी मनुष्य की हो, किसी देश की हो—अपने आपको गंगा में फेंक दे—चाहे फिर उसके प्राण यह काम करने में रहें या जायँ तो इस कार्य के प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस देश में,

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

किस जाति में और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता ? प्रेम का आचरण, उदारता का आचरण, दया का आचरण—क्या पशु और क्या मनुष्य—जगत् भर के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्यहीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।

एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते-खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गये। घोड़ा उसका मर गया। बंदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है। ओले पड़ रहे हैं। ठंढी हवा उसकी हड्डियों तक को हिला रही है। प्रकृति ने इस घड़ी इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक बे-सरो सामान कर दिया। इतने में दूर एक पहाड़ की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे-नीचे उतार-चढ़ाव को पार करने से थका हुआ, भूखा और सर्दी से ठिठुरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो-तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपनी झोपड़ी में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग उसके आगे रखा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है तू, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्त्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करने वाला है।

शिकारी कई रूसों का जार ही क्यों न हो, इस समय तो एक रोटी और गरमबिस्तर पर—अग्नि की एक चिनगारी और टूटी छत पर—उसकी सारी राजधानियाँ बिक गईं। अब यदि वह अपना सारा राज्य उस किसान

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

को, उसकी अमूल्य रक्षा के मोल में देना चाहे तो भी वह तुच्छ है। अब उस निर्धन और निरक्षर पहाड़ी किसान की दया और उदारता के कर्म के मौन व्याख्यान को देखो। चाहे शिकारी को पता लगे चाहे न लगे, परन्तु राजा के अन्तस् के मौन-जीवन में उसने ईश्वरीय औदार्य की कलम गाड़ दी। शिकार में अचानक रास्ता भूल जाने के कारण जब इस राजा को ज्ञान का एक परमाणु मिल गया तब कौन कह सकता है कि शिकारी का जीवन अच्छा नहीं। क्या जंगल के ऐसे जीवन में, इस प्रकार के व्याख्यानों से, मनुष्य का जीवन शनैः शनैः नया रूप धारण नहीं करता ? जिसने शिकारी जीवन के दुखों को नहीं सहन किया उसको क्या पता कि ऐसे जीवन की तह में किस प्रकार के और किस मिठास के आचरण का विकास है। इसी तरह क्या एक मनुष्य के जीवन और क्या एक जाति के जीवन में—पवित्रता और अपवित्रता भी जीवन के आचरण को भली भाँति गढ़ती है—और उस पर भी भली भाँति कुन्दन करती है। जगाई और मधाई यदि पक्के लुटेरे न होते तो महाप्रभु चैतन्य के आचरण-संबंधी मौन व्याख्यान को ऐसी दृढ़ता से कैसे ग्रहण करते। नग्न नारी को स्नान करते देख सूरदास जी यदि कृष्णार्पण किए गये अपने हृदय को एक बार फिर उस नारी की सुन्दरता निरखने में न लगाते और उस समय फिर एक बार अपवित्र न होते तो सूरसागर में वह प्रेम का मौन व्याख्यान—आचारण का वह उत्तम आदर्श—कैसे दिखाई देता ? कौन कह सकता है कि जीवन की पवित्रता और अपवित्रता के प्रतिद्वन्द्वी भाव से संसार के आचरणों में एक अद्भुत पवित्रता का विकास नहीं होता ! यदि मेरी मडलिन वेश्या न होती तो कौन उसे ईसा के पास ले जाता और ईसा मौन के व्याख्यान के प्रभाव से किस तरह आज वह हमारी पूजनीया माता बनती ? कौन कह सकता है ध्रुव की सौतेली माता अपनी कठोरता से ही ध्रुव को अटल बनाने में वैसी ही सहायक नहीं हुई जैसी की स्वयं ध्रुव की माता।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अन्तरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिम्ब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं; क्या पता है, किन-किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं? जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन अधर्मों को करके वे धर्मज्ञान को पा सके हैं? जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्मपूर्ण अपवित्रता में लिप्त रहे हों? अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से भरी हुई अन्धकार-मय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो, तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य्य से क्या लाभ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ? बहरे को राग से क्या लाभ? कविता, साहित्य, पीर, पैगम्बर, गुरु, आचार्य्य, ऋषि आदि के उपदेशों का लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ? जब तक जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित हो कर उससे दो नये पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के?

जगत् के अनेक सम्प्रदाय अनदेखी और अनजानी वस्तुओं का वर्णन करते हैं; पर अपने नेत्र तो अभी माया-पटल से बंद हैं—और धर्मानुभव के लिए मायाजाल में उनका बन्द होना आवश्यक भी है। इस कारण मैं उनके अर्थ कैसे जान सकता हूँ? वे भाव—वे आचरण जो उन आचार्यों के हृदय में थे और जो उनके शब्दों के अन्तर्गत मौनावस्था में

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

पड़े हुए हैं, उनके साथ मेरा सम्बन्ध—जब तक मेरा भी आचरण उसी प्रकार का न हो जाय तब तक हो ही कैसे सकता है? ऋषि को तो मौन पदार्थ भी उपदेश दे सकते हैं; टूटे फूटे शब्द भी अपना अर्थ भासित कर सकते हैं, तुच्छ से भी तुच्छ वस्तु उसकी आँखों में उसी महात्मा का चिह्न है जिसका चिह्न उत्तम पदार्थ है। राजा में फकीर छिपा है और फकीर में राजा, बड़े से बड़े पण्डित में मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख में पण्डित। वीर में कायर और कायर में वीर सोता है। पापी में महात्मा और महात्मा में पापी डूबा हुआ है।

वह आचरण, जो धर्म-सम्प्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनता है, हम में कहाँ, जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये सम्प्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन सम्प्रदायों के नाम से हमारा खून करें? कोई भी धर्म-सम्प्रदाय आचरणरहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरण वाले पुरुषों के लिए सभी धर्म सम्प्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है। आचरण के विकास लिए नाना प्रकार की सामग्री का—जो संसार-सम्भूत शारीरिक प्राकृतिक मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है, उन सबका—क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के सम्बन्ध में विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सब को, आचरण संघठित करनेवाले धर्म का अङ्ग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो वह निश्चय पूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचरणशील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनाई हुई सड़क से नहीं आया। उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनाई थी। इसी से उसके बनाए हुए रास्ते पर चल

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

कर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने ही जीवन की कुदाली की एक-एक चोट से रात दिन बनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही चलानी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक-ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ देता हूँ तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किए जाता हूँ तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का मान नहीं तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में भी अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा होने दो। उसकी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या? आँधी हो, बर्फ हो, बिजली की कड़क हो, समुद्र का तूफान हो, वह दिन-रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में डूब जाता है। परन्तु अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरण का यह अंश मेरे-तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मन्दिर में; न मैं नमाज पढ़ता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ; न सन्ध्या ही करता हूँ और न कोई देव-पूजा ही करता हूँ। न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने शिर ही झुकाया है। इन सबसे प्रयोजन ही क्या और हानि भी क्या? मैं तो अपनी खेती करता हूँ; अपने हल और बैलों को प्रातःकाल प्रणाम करता हूँ; मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पक्षियों की

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

संगीत में बीतता है; आकाश के बादलों को देखते-देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देता। हाँ यदि मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत में अन्न उग रहा है; मेरा घर अन्न से भरा है; बिस्तर के लिए मुझे एक कमली काफी है। कमर के लिए एक लंगोटी और शिर के लिए एक टोपी बस है। हाथ-पाँव मेरे बलवान हैं, शरीर मेरा निरोग है; भूख खूब लगती है; बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चे को मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए भिन्न भिन्न धर्म सम्प्रदाय लंबी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं ?

जब साहित्य संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतार कर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया—जब आलस्य और विषय-विकार की लम्पटता ने जंगल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दंड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न उसे कोई जगा ही सका। ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया वह उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत से सम्बन्ध रखनेवाले जीवन से ही प्राप्त किया। इस जाति की उन्नति लड़ने-भिड़ने, मरने-मारने, लूटने और लुट जाने, शिकार करने और शिकार होनेवाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं कि केवल धर्म ही जाति को उन्नत करता है। यह ठीक है, परन्तु वह धर्मांकुर, जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पाप-मय जीवन की गंदी राख के ढेर के ऊपर नहीं उगता है। मन्दिरों और गिरजों की मन्द मन्द टिमटिमाती हुई मोमबत्तियों को रोशनी से यूरोप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन, जिसको देश, देशान्तरों को ढूँढ़ते फिरते रहने के बिना शान्ति नहीं मिलती, जिसकी अन्तर्ज्वाला दूसरी जातियों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज करने के बिना

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

मन्द नहीं पड़ती—केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दलकर और पहाड़ों को फाँद कर उनको उस महत्ता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिन हुड की प्रशंसा में इंगलैंड के जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं उन्हें तत्वदर्शी कहना चाहिए; क्योंकि राबिन हुड जैसे भौतिक पदार्थों से ही नेलसन और वेलिंगटन जैसे अँगरेज वीरों की हड्डियाँ तैयार हुई थीं। लड़ाई के आजकल के सामान—गोले, बारूद, जंगी जहाज, तिजारती बेड़ों आदि—को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा!

यदि यूरोप के समुद्रों में जंगी जहाज मक्खियों की तरह न फैल जाते और यूरोप का घर-घर सोने और हीरे से न भर जाता तो वहाँ पदार्थ-विद्या के सच्चे आचार्य और ऋषि कभी न उत्पन्न होते। पश्चिमीय ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अन्तर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य जाति ने पहन रखा है यूरोप को कदापि न प्राप्त होता, यदि धन और तेज एकत्र करने के लिए यूरोपनिवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूर्वी जगत् ने इस महत्ता के लिए अपनी शक्ति से अधिक भी चन्दा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ यूरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा हुआ मालूम होता है—वहीं दूसरी ओर यूरोप के जीवन का वह भाग जिसमें विद्या और ज्ञान के ऋषियों का सूर्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायँगे।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्यवर्धक भूमि देने के लिए जिससे वह प्रकाश और वायु में खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह अवश्य है कि बहुत से हाथ एक अनन्त प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों को सदा ही कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कहीं हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुष का और क्या जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाए बिना—सारी प्रकृति को हवा में उड़ाए बिना भला कब मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ाना है, उसे उड़ाकर मिथ्या करना है। समुद्रों में डोरा डालकर अमृत निकालना है। सो भी कितना? जरा सा। संसार की खाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे बिठाए भी वह मिल सकता है?

हिन्दुओं का सम्बन्ध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्तमान वंश में अधिक बलवान् श्रेणी के मनुष्य होते—तो उनके भी ऋषि, पराक्रमी, जनरल और धीरे-वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रता-मय प्रेम के जीवन को देख-देखकर अहंकार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जंगली जाति की सन्तान होते तो उनमें भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है; परन्तु ऋषियों को अपनी उन्नति के लिए राख और पृथ्वी बनाना कठिन है; क्योंकि ऋषि तो केवल अनन्त प्रकृति पर सजते हैं, हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में, यूरोप में सभी असभ्य थे; परन्तु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

तारागणों को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे! कारण इसका केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

रोटी के बिना जी सकता हूँ; हवा में पद्मासन जमा सकता हूँ; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ; योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ; समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा; परन्तु अब तक न संसार ही की ओर, न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूँक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो, भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।

तात्पर्य केवल यह है कि आचरण केवल मन के स्वप्नों से कभी नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस घिस कर बनता है; उसके फूल तो सूर्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से बार-बार भींगकर और सूखकर अपनी लाली पकड़ते हैं।

हजारों साल से धर्म-पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक तुम्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ तो फिर अपने हठ में क्यों मर रहे हो? अपनी-अपनी स्थिति को क्यों नहीं देखते? अपनी-अपनी कुदाल हाथ में लेकर क्यों नहीं आगे बढ़ते? पीछे मुड़-मुड़कर देखने से क्या लाभ? अब तो खुले जगत् में अपने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ दो। तुममें से हरएक को अपना अश्वमेध करना है। चलो तो सही। अपने आपकी परीक्षा करो।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडम्बरों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई! माला से तो जप नहीं होता गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र में तैरने से नेती धुलती है, आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, सरदी-गरमी, गरीबी-अमीरी के झेलने से तप हुआ करता है, आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज पर बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चन्द्र और सूर्य भी केवल आटे

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

की बड़ी-बड़ी दो रोटियाँ से प्रतीत होते हैं। कुटिया में बैठकर हो धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनन्द आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने ही पर मानसिक सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण-सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान् है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है।

जिस समय बुद्धदेव ने स्वयं अपने हाथों से हाफिज शीराजी का सीना उलटकर उसे मौन-आचरण का दर्शन कराया उस समय फारस में बौद्धों को निर्वाण के दर्शन हुए और सब के सब आचरण की सभ्यता के देश को प्राप्त हो गए।

जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफिर में मोमिन किस प्रकार गुप्त था ? जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंककर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराए तब हिंदू चकित हो गए कि वह नग्न करने अथवा नग्न होनेवाला उनका कौन सा शिव था ? हम तो एक दूसरे में छिपे हुए हैं। हर एक परमाणुओं में परिणत करके, उसके प्रत्येक परमाणु में अपने आपको ढूँढ़ना—अपने आपको एकत्र करना—अपने आचरण को प्राप्त करना है। आचरण की प्राप्ति एकता की दशा की प्राप्ति है। चाहे फूलों की शय्या हो चाहे काँटों की; चाहे निर्धन हो चाहे

६

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

धनवान्; चाहे राजा हो चाहे किसान; चाहे रोगी हो चाहे नीरोग— हृदय इतना विशाल हो जाता है कि उसमें सारा संसार विस्तर लगाकर आनंद से आराम कर सकता है; जीवन आकाशवत् हो जाता है और नाना रूप और रंग अपनी अपनी शोभा में बेखटके निर्भय होकर स्थित रह सकते हैं। आचरणवाले नयनों का मौन व्याख्यान केवल यह है—"सब कुछ अच्छा है, सब कुछ भला है"। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनाई देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं; प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारंभ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, जहाँ ऐसी ज्योति होती है, वही आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं, चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपिटक में, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है! लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिये अंकित किया है कि इस चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।

———

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

कछुआ-धर्म

चन्द्रधरशर्मा गुलेरी

(सन् १८८३-१९२२)

मनुस्मृति में कहा गया है जहाँ गुरु की निन्दा या असत् कथा हो रही हो वहाँ पर भले को चाहिए कि कान बंद कर ले या और कहीं उठ कर चला जाय। यह हिंदुओं के या हिन्दुस्तानी सभ्यता के कछुआ-धर्म का आदर्श है। ध्यान रहे कि मनु महाराज ने न सुनने योग्य कलंक-कथा के सुनने के पाप से बचने के दो ही उपाय बताए हैं। या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबा कर चल दो। तीसरा उपाय, जो और देशों के सौ में नब्बे आदमियों को ऐसे अवसर पर पहले सुझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर, या मुक्का तानकर सामने खड़े हो जाओ और निंदा करनेवाले का जबड़ा तोड़ दो या मुँह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे। यह हमारी सभ्यता के भाव के विरुद्ध है। कछुआ ढाल में घुस जाता है, आगे बढ़कर मार नहीं करता।

अश्वघोष महाकवि ने बुद्धि के साथ-साथ चले जाते हुए साधु पुरुष को यह उपमा दी है—अनार्य लोग देश पर चढ़ाई कर रहे हैं। धर्म भागा जा रहा है। महर्षि भी उसके पीछे पीछे चले जा रहे हैं। यह कर लेंगे कि दक्षिण अप्रकाश देश को कोई अत्रि या अगस्त्य यज्ञों और वेदों के योग्य बना लें—जब तक कि दूसरे कोई राक्षस या अनार्य उसे भी रहने के अयोग्य न कर दे—पर यह नहीं कि डटकर सामने खड़े हो जावें और अनार्यों की बाढ़ को रोकें। पुराने से पुराने आर्यों को अपने भाई असुरों से अनबन हुई।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

असुर असुरिया में रहना चाहते थे, आर्य सप्तसिन्धुओं को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिए। पीछे वे दबाते आए। विष्णु ने अग्नि यज्ञपत्र और अरणि रखने के लिए तीन गाड़ियाँ बनाईं। उसकी पत्नी ने उनकी पहियों की चूल को घी से आँज दिया। ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिए हुए यह 'कारवाँ' मूँजवत् हिन्दूकुश के एक-मात्र दर्रे खैबर में होकर सिन्धु की घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अम्भारि, वम्भारि, हस्त, सुहस्त, कृशान, शंड, मर्क मारते चले आते थे। ध्रज की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लंबी डग भरनेवाले विष्णु ने पीछे फिरकर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आए और यहाँ 'भ्रातृव्य वधाय' 'सजातानां मध्यमेष्ट्याय' देवताओं को आहुति देने लगे। चलो जम गए। जहाँ-जहाँ रास्ते में टिके थे वहाँ-वहाँ यूप खड़े हो गए। यहाँ की सुजला सुफला शस्यश्यामला भूमि में बलबुलें चहकने लगीं। पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, यानी मुँजवत् पहाड़ की सोमलता का चसका पड़ा हुआ था लेने जाते तो वे पुराने गन्धर्व मारने दौड़ते। हाँ उनमें कोई-कोई उस समय का चिलकौवा नकदनारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाता था। उस समय का सिक्का गौएँ थीं। जैसे आजकल लखपति और करोड़पति कहलाते हैं वैसे तब 'शतगु' 'सहस्रगु' कहलाते थे। ये दमड़ीलाल के पोते करोड़चन्द्र अपने 'नवग्वः' 'दशग्वाः' पितरों से शरमाते न थे; आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचनेवाले पेशावरियों की तरह कोई-कोई सरहदी यहाँ पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमाप्रान्त पर जाकर ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुँजड़िनों से हुआ करती है।

ये कहते कि गौ कि एक कला में सोम बेच दो। वह कहता कि वाह! सोमराज का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते,

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है पर काबुली काहे को मानता, उसके पास सोम की मनोपली थी और इन्हें बिना लिये सरता नहीं। अन्त को गौ का एक पाद, अर्ध, होते होते दाम तै हो जाते। भारी आँखोंवाली एक बरस की बछिया में, सोमराजा खरीद लिये जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते। जैसे मुसलमानों के यहाँ सूद लेना तो हराम है, पर हिन्दू साहूकारों को सूद देना हराम होने पर भी देना ही पड़ता है वैसे यह तो फतवा दिया गया कि 'पापो हि सोमविक्रयी' पर सोमक्रय करना—उन्हीं गन्धर्वों के हाथ गौ बेचकर सोम लेना—पाप नहीं कहला सका। तो भी सोम मिलने में कठिनाई होने लगी। गन्धर्वों ने दाम बढ़ा दिए या सफर दूर का हो गया, या रास्ते में डाके मारनेवाले 'वाहीक' आ बसे, कुछ न कुछ हुआ। तब यह तो हो गया कि सोम के बदले में पूतिक लकड़ी का ही रस निचोड़ लिया जाय, पर यह किसी को न सूझी कि सब प्रकार की जलवायु की इस उर्वरा भूमि में कहीं सोम की खेती कर ली जाय जिससे जितना चाहे उतना सोम घर बैठे मिले। उपमन्यु को उसकी माँ ने और अश्वत्थामा को उसके बाप ने जैसे जल में आटा घोलकर दूध कहकर पतिया लिया था, वैसे पूतिक की सीखों से देवता पतियाए जाने लगे।

अच्छा, अब उसी पंचनद में वाहीक आकर बसे। अश्वघोष की फड़कती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड-कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त ब्रह्मर्षिदेश और आर्यावर्त की महिमा हो गई और वह पुराना देश—'न तत्र दिवसं वसेत'! युगन्धरे पयः पीत्वा कथं स्वर्गं गमिष्यति !!

बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते-मारते तो सही बेधर्म भी कर देते। बस, समुद्रयात्रा बंद। कहाँ तो राम के बनाए सेतु का दर्शन करके ब्रह्महत्या मिटती थी और कहाँ नाव में जानेवाले द्विज का प्रायश्चित कराकर भी संग्रह बंद! वही कछुआ-धर्म! ढाल के अन्दर बैठे रहो!

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

पुर्तगाली यहाँ व्यापार करने आए। अपना धर्म फैलाने की भी सूझी। कुएँ पर सैकड़ों नर-नारी पानी भर रहे और नहा रहे थे। एक पादरी ने कह दिया कि मैंने इसमें तुम्हारा अभक्ष्य डाल दिया है। फिर क्या था। कछुए को ढाल के बल उलट दिया गया। अब वह चल नहीं सकता। किसी ने यह सोचा कि अज्ञात पाप पाप नहीं होता। किसी ने यह नहीं सोचा कि कुल्ले कर लें, घड़े फोड़ दें या कै ही कर डालें। गाँव के गाँव ईसाई हो गए। और दूर-दूर के गाँव के कछुओं को यह खबर लगी तो बम्बई जाने में भी प्रायश्चित कर दिया गया।

हिन्दू से कह दीजिए कि विलायती खाँड़ खाने में अधर्म है। इसमें अभक्ष्य चीजें पड़ती हैं। चाँहे आप वस्तुगति से कहें, चाहे राजनैतिक चालबाजी से कहें, चाहे अपने देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए उसकी सहानुभूति उपजाने को कहें। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि राजनैतिक दशा सुधारनी चाहिए। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि गन्ने की खेती बढ़े। उसका केवल एक ही कछुआ उत्तर होगा—वह खाँड़ खाना छोड़ देगा, बनी-बनाई मिठाई गौओं को डाल देगा, या बोरियाँ गंगाजी में बहा देगा। कुछ दिन पीछे कहिए कि देशी खाँड़ के बेचनेवाले भी सफेद बूरा बनाने के लिए वही उपाय करते हैं। मैली खाँड़ खाने लगेगा। कुछ दिन ठहरकर कहिए कि सस्ती जावा या मोरस की खाँड़ मैली करके बिक रही है। वह गुड़ पर उतर आवेगा। फिर कहिए कि गुड़ के शीरे में भी सस्ती मोरिस के मैला का मेल है। वह गुड़ छोड़कर पितरों की तरह शहद (मधु) खाने लगेगा, वह गुड़ छोड़कर मिठाई खाना छोड़ देगा। वह सिर निकालकर यह न देखेगा कि सात सेर की खाँड़ छोड़कर डेढ़ सेर की कब तक खाई जायगी। यह न सोचेगा कि बिना मीठे कब तक रहा जायगा। यह नहीं देखेगा कि उसकी-सी मतिवाले शर्बत न पीनेवालों की संख्या घटती घटती दहाइयाँ और इकाइयों पर आ-जा रही है। वह यह नहीं विचारेगा कि बन्नू से कलकत्ते तक डाकगाड़ी में यात्रा करनेवाला जून के

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

महीने में झुलसते हुए कंठ को बरफ से ठंडा बिना किए रह नहीं सकता। कछुआपन कछुआ भगवान् की तरह पीठ पर मन्दराचल की मथनी चलाकर समुद्र से नए रत्न निकालने के लिए नहीं है। उसका कछुआपन ढाल के भीतर और भी सिकुड़कर घुस जाने के लिए है।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है, दुःख होने पर उसे मिटाना चाहती है। यह स्वभाव है। अपनी-अपनी समझ है। संसार में त्रिविध दुःख दिखाई पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिए उपाय भी किए जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनसे सन्तोष न हुआ तो सुने सुनाए (आनुश्रविक) उपाय किए। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ-कड़ी गिन-गिनकर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पककर उपाय खोजा। किसी ने कहा कि बहस, बकझक, वाक्छल, बोली की चूक पड़ने और कच्ची दलालों की सीवन उधेड़ने में ही परम पुरुषार्थ है। यही शगल सही। किसी न किसी तरह कोई न कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा चोर को क्यों मारें, चोर की माँ को ही न मारें। न रहे बाँस न बजे बाँसुरी। यह जीवन ही तो सारे दुःखों की जड़ है। लगीं प्रार्थनाएँ होने—

"मा देहि राम ! जननी जठरे निवासम्" "ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं जनाः" और यह उस देश में जहाँ कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते-कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें—सौ बरस ही क्यों, सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम-फिर सकते हों और समुद्र की मछलियाँ मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने शीत और अँधियारे में क्या खाएँगे, वहाँ जीवन से इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है पर जहाँ राम के राज में 'अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु'—बिना खेती के फसलें पक जायँ और पत्ते-पत्ते में शहद मिले—वहाँ इतना

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

वैराग्य क्यों ? हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। वे महाशय यों ही एक दिन मौज से घूमने निकलते हैं। सुरपुर से अफ़वाह पहुँची। बस इन्द्र ने झट-पट किवाड़ बन्द कर दिए आगल डाल दी। मानों अमरावती ने आँखें बंद कर लीं।

यह कछुआ धरम का भाई शुतुर्मुर्ग-धरम है। कहते हैं कि शुतुर्मुर्ग का पीछा कीजिए तो वह बालू में सिर छिपा लेता है। समझता है कि मेरी आँखों से पीछा करनेवाला नहीं दीखता तो उसे भी मैं नहीं दीखता। लंबा-चौड़ा शरीर चाहे बाहर रहे, आँखें और सिर तो छिपा लिया! कछुए ने हाथ, पाँव, सिर भीतर डाल लिया।

इस लड़ाई में कम से कम पाँच लाख हिन्दू आगे-पीछे समुद्र पार जा आए हैं। पर आज कोई पढ़ने के लिए विलायत जाने लगे तो हनोजरोज अव्वल अस्त! अभी पहला ही दिन है! सिर रेत में छिपा है!

———

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

कविता क्या है ?

रामचन्द्र शुक्ल

(सन् १८८४-१९४१)

कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। राग से यहाँ अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहनेवाली अंतःकरण-वृत्ति से है। जिस प्रकार निश्चय के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिए भी कुछ विषयों का बाह्य या मानस प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है। यही हमारे रागों या मनोवेगों के—जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं—विषय हैं। कविता उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है जो सजीव सृष्टि के बीच सुख-दुःख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा अत्यन्त प्राचीन कल्प में प्रकट हुई और जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव मनुष्य-जाति आदि काल से करती चली आई है। वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, पशु, पक्षी, अनंत आकाश, नक्षत्र इत्यादि तो मनुष्य के आदिम सहचर हैं ही पर खेत, ढुर्री, झोंपड़े, चौपाए आदि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इनके द्वारा प्राप्त रागात्मक संस्कार मानव अंतःकरण में दीर्घ परंपरा के कारण मूल रूप से बद्ध हैं, अतः इनके द्वारा जैसा पक्का रसपरिपाक संभव है वैसा कल, कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन, हवाई जहाज इत्यादि द्वारा नहीं।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करके कविता मानव-जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। यदि इन वृत्तियों को समेटकर मनुष्य अंतःकरण के मूल रागात्मक अंश को सृष्टि से किनारे कर ले तो फिर उसके जड़ हो जाने में क्या सन्देह है ? यदि वह लहलहाते खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों, पटपर के बीच खड़े झाड़ों को देख क्षणभर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनंदोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप देख पवित्र भाव से मुग्ध न हुआ, यदि दीन दुखी का आर्तनाद सुन न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि हास्य की अनूठी उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया ? ज्यों ज्यों मनुष्य के व्यापार का क्षेत्र जटिल और सघन होता गया त्यों त्यों सृष्टि के साथ उसके रागात्मक संबंध के विच्छेद की आशंका बढ़ती गई। ऐसी स्थिति में बड़े-बड़े कवि ही संभालते आए हैं।

जो कुछ अब तक कहा गया उससे यह स्पष्ट है कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा, आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने का भी उद्योग करती है। इस बात का निश्चय हो जाने पर वे सब मतभेद दूर हो जाते हैं जो काव्य के नाना लक्षणों और विशेषतः रस आदि के भेद-प्रतिबन्धों के कारण चल पड़े हैं। ध्वनि-संप्रदायवालों का नैयायिकों से उलझना, आलंकारिकों का रस-प्रतिपादकों से झगड़ना एक पतली गली में बहुत से लोगों का धक्कमधक्का करने के समान है। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" में कुछ लोगों को जो अव्याप्ति दिखाई पड़ी है वह नौ भेदों के कारण। रस के नौ भेदों

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

की लीक के भीतर सृष्टि के बहुत थोड़े से अंश के वर्णन के लिए शृंगार के उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत उन्हें थोड़ी सी जगह दिखाई पड़ी। हमारे पिछले खेवे के हिन्दी कवियों ने तो उतने ही पर संतोष किया। रीति के अनुसार 'षट्ऋतु' के अंतर्गत कुछ इनी-गिनी वस्तुओं को लेकर कभी नायिका को हर्ष पुलकित करके और विरह से विकल करके वे चलते हुए।

बात यह है कि आरम्भ में कहे हुए काव्य के व्यापक आदर्श से जिस समय संस्कृति काव्य च्युत हो चुका था उस समय हिन्दी काव्य अग्रसर हुआ इससे उसमें सृष्टि-वर्णन का व्यापक समावेश न होने पाया। यह कमी केशव की लीक पीटनेवाले 'कविंदों' में ही नहीं है, उनसे पहले के वास्तविक काव्य, महाकाव्य, आख्यान-काव्य रचनेवाले बड़े-बड़े कवियों में भी पाई जाती है। वाल्मीकि के वर्षा और शरद् के विशद वर्णन को गो० तुलसीदासजी के वर्णनों से मिलाने से यह बात समझ में आ जाएगी। कहाँ—

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुघनं विभाति।

× × ×

व्यामिश्रितं सर्जकदंबपुष्पै-
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति॥

और कहाँ—

बरषहिं जलदभूमि नियराए।
यथा नवहिं बुध विद्या पाए॥
दामिनि दमक रही घन माहीं।
खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

कहाँ प्रकृति का वह सूक्ष्म निरीक्षण, कहाँ उदाहरण की ओर यह दूटना। बाबाजी की दृष्टि 'यथा नवहिं बुध विद्या पाए' इस उपदेशात्मक वाक्य की ओर अधिक जान पड़ती है, वस्तु-वर्णन की ओर कम। भारतेन्दु का गङ्गा और यमुना वर्णन अच्छा कहा जाता है पर वह भी परंपराभुक्त और उपमा-प्रधान है।

हिन्दीवाले चाहे ऐसे वर्णनों से संतोष कर लें पर जिनकी आँखों के सामने कुमारसंभव का हिमालय-वर्णन और मेघदूत का नाना-प्रदेशवर्णन नाच रहा था वे स्पष्ट देख सके कि प्रकृति का यह सूक्ष्म निरीक्षण शृंगार के उद्दीपन विभाव की दृष्टि से नहीं है, शुद्ध वर्णन के निमित्त दृश्य अंकित करने के निमित्त है। उन्होंने रस की नौ नलियों के भीतर ऐसे शुद्ध वर्णनों के लिए कोई गड्ढा न पाकर 'रसात्मकं वाक्यम्' से असन्तोष प्रकट किया पर असन्तोष नाली बनानेवालों के प्रति होना चाहिए था, रस के सिद्धान्त के प्रति नहीं। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में एक प्रकार का रस अवश्य है चाहे उसे अनिर्वचनीय कहिए, चाहे उसका कोई नाम रखिए, चाहे उसे किसी रस के भीतर कीजिए।

कार्य में प्रवृत्ति

यदि क्रोध, करुणा, दया, प्रेम आदि मनोभाव मनुष्य के अन्तःकरण से निकल जायँ तो वह कुछ नहीं कर सकता। कविता हमारे मनोभाव को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देती है, हम सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर मोहित होने लगते हैं, कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है। इस प्रकार कविता की प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य में बहुत कम प्रवृत्त होते हैं। केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम के करने या न करने के लिए प्रायः तैयार नहीं होते कि वह

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित हो जाती है तो हमें आह्लाद, क्रोध, करुणा आदि से विचलित कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने को प्रस्तुत होते हैं। केवल बुद्धि हमें काम करने के लिए उत्तेजित नहीं करती। काम करने के लिए मन ही हमको उत्साहित करता है। अतः कार्य-प्रवृत्ति के लिए मन में वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी जन-समुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है, इसी से तुम्हारे यहाँ अकाल और दारिद्रय बन रहा है, तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्रय और अकाल का भीषण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए प्राणियों के अस्थिपञ्जर कल्पना के सम्मुख रखे जायँ और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त्त स्वर सुनाया जाय तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से विह्वल हो उठेंगे और इन बातों को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले प्रकार की बात कहना राजनीतिज्ञ का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य दिखाना कवि का कर्त्तव्य है। मानव-हृदय पर दोनों में से किसका अधिकार अधिक हो सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

स्वभाव-संशोधन

कविता के द्वारा हम संसार के सुख, दुःख, आनन्द और क्लेश आदि यथार्थ रूप से अनुभव करने में अभ्यस्त होते हैं जिससे हृदय की स्तब्धता हटती है और मनुष्यता आती है। किसी लोभी और कंजूस दूकानदार को देखिए जिसने लोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि मनोविकारों को दबा दिया है और संसार के सब सुखों से मुखमोड़ लिया है। अथवा किसी महाक्रूर राजकर्मचारी के पास जाइए जिसका हृदय

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश का अनुभव स्वप्न में भी नहीं होता। ऐसा करने से आपके मन में यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि क्या इनकी भी कोई दवा है। ऐसे हृदयों को द्रवीभूत करके उन्हें अपने स्वाभाविक धर्म पर लाने की सामर्थ्य काव्य ही में है। कविता ही उस दूकानदार की प्रवृत्ति को भौतिक और आध्यात्मिक सृष्टि के सौन्दर्य की ओर ले जाएगी, कविता ही उसका ध्यान औरों की आवश्यकताओं की ओर आकर्षित करेगी और उनकी पूर्ति करने की इच्छा उत्पन्न करेगी, कविता ही उसे उचित अवसर पर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि सिखावेगी। इसी प्रकार उस राजकर्मचारी के सामने कविता ही उसके कार्यों का प्रतिबिम्ब खींचकर रखेगी और उनकी जघन्यता और भयंकरता का आभास दिखलावेगी, तथा दैवी किंवा अन्य मनुष्यों द्वारा पहुँचाई हुई पीड़ा और क्लेश के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश को दिखलाकर उसे दया दिखाने का अभ्यास कराएगी।

मनोरञ्जन

प्रायः लोग कहा करते हैं कि काव्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है। पर मेरी समझ में केवल मनोरंजन उसका साध्य नहीं है। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरान्त कुछ और भी होता है। मनोरंजन करना कविता का वह प्रधान गुण है जिससे वह मनुष्य के चित्त को अपना प्रभाव जमाने के लिए वश किए रहती है उसे इधर उधर जाने नहीं देती; यही कारण है कि नीति और धर्म सम्बन्धी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते जैसा कि काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो', 'सदैव सच बोलो', 'चोरी करना महापाप है', हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई अपकारी मनुष्य परोपकारी हो जायगा, झूठा सच्चा हो जाएगा, और चोरी करना छोड़

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

देगा। क्योंकि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी सूखी शिक्षाएँ ग्रहण करने के लिए उद्यत नहीं होता; दूसरे मानव-जीवन पर उसका कोई प्रभाव अंकित न देखकर वह उनकी कुछ परवाह नहीं करता। पर कविता अपनी मनोरंजन शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्त उचटने नहीं देती, उसके हृदय के मर्मस्थानों का स्पर्श करती है और सृष्टि में उक्त कर्मों के स्थान और सम्बन्ध की सूचना देकर मानव-जीवन पर उनके प्रभाव और परिमाण विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है। इन्द्रासन खाली कराने का वचन देकर, यमराज का स्मरण दिलाकर, दोजख की जलती हुई आग की धमकी देकर हम बहुधा किसी मनुष्य को सदाचारी और कर्तव्यपरायण नहीं बना सकते। बात यह है कि इस तरह का लालच या धमकी ऐसी है जिससे मनुष्य परिचित नहीं और जो इतनी दूर की है कि उसकी परवा करना मानवप्रकृति के विरुद्ध है। सदाचार में एक अलौकिक सौन्दर्य और माधुर्य होता है। अतः लोगों को सदाचार की ओर आकर्षित करने का प्राकृत उपाय यही है कि उनको उसका सौन्दर्य और माधुर्य दिखाकर लुभाया जाय, जिससे वे बिना आगा पीछा सोचे मोहित होकर उसकी ओर ढल पड़ें।

मन को अनुरंजित करना और उसे सुख पहुँचाना ही यदि कविता का धर्म माना जाय तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई। परन्तु क्या हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि का आदि-काव्य, कालिदास का मेघदूत, तुलसीदास का रामचरितमानस या सूरदास का सूरसागर विलास की सामग्री है? इन ग्रन्थों से मनोरंजन होगा तो चरित्र-संशोधन भी अवश्य ही होगा। मन लगने से यह सूचित होगा कि मन अब इस अवस्था में हो गया है कि उस पर कोई प्रभाव डाला जाय। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी भाषा के अनेक कवियों ने शृङ्गाररस की उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भी विलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे। गरमी के मौसिम के लिए एक कविजी आज्ञा करते हैं—

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन मैं,
डारि के कमलदल न्हायबे को धँसिए।
कालिदास अंग अंग अगर अतर संग,
केसर उसीर नीर घनसार घँसिए।
जेठ में गोबिन्दलाल ! चंदन के चहलन,
भरि भरि गोकुल के महलन बसिए।

अब शिशिर के मसाले सुनिए—

गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चिक हैं चिराकैं हैं चिरागन की माला है।
कहै पदमाकर हैं गजक गजा हू सजी,
सेज है, सुरा है, सुराही है, सुप्याला हैं।
शिशिर के पाला को न ब्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।

ऐसी शृङ्गारिक कविता को कोई विलास की सामग्री कह बैठे तो उसका क्या दोष ? सारांश यह कि कविता का काम मनोरंजन ही नहीं कुछ और भी है।

चरित्र-चित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं। आदिकाव्य रामायण में जब हम भगवान् रामचन्द्र के प्रतिज्ञा-पालन, सत्यव्रताचरण, और पितृभक्ति आदि की छटा देखते हैं, भरत के सर्वोच्च स्वार्थत्याग और सर्वांगपूर्ण सात्त्विक चरित का आलौकिक तेज देखते हैं तब हमारा हृदय श्रद्धा, भक्ति और आश्चर्य से स्तंभित हो जाता है। इसके विरुद्ध जब हम रावण की दुष्टता और उद्दंडता का चित्र देखते हैं तब समझते हैं कि दुष्टता क्या चीज है और उसका प्रभाव और परिणाम सृष्टि में क्या है। अब देखिए, कविता द्वारा कितना उपकार होता है। उसका काम भक्ति, श्रद्धा, दया, करुणा, क्रोध और प्रेम आदि मनोवेगों को तीव्र और परिमार्जित करना तथा

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

सृष्टि की वस्तुओं और व्यापारों से उनका उचित और उपयुक्त सम्बन्ध स्थिर करना है।

उच्च आदर्श

कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे ऐसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय करती है जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।

कविता की आवश्यकता

कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, प्रदर्शन न हो, पर कविता अवश्य होगी। इसका क्या कारण है? बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा घना मण्डल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर फँसकर वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध कभी कभी नहीं रख सकता। इस बात से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जाग्रत रखने के लिए कविता मनुष्य-जाति के संग लग गई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि शेष प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पावे। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं। हमने किसी उपन्यास में पढ़ा है कि एक चिड़चिड़ा बनिया अपनी सुशीला और परम रूपवती बधू को अकारण निकालने को उद्यत हुआ। जब उसके पुत्र ने अपनी स्त्री की ओर से कुछ कहा तो वह चिढ़कर बोला—"चल चल! भोली सूरत पर मरा जाता है।" आह! यह कैसा अमानुषिक वर्ताव है। संसारिक बन्धनों में फँसकर मनुष्य का हृदय कभी कभी इतना कठोर और कुंठित हो जाता है कि उसकी चेतनता—उसका मानुष

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

भाव कम हो जाता है। न उसे किसी का रूप-माधुर्य देखकर उस पर उपकार करने की इच्छा होती है, न उसे दीन दुखिया की पीड़ा देखकर करुणा आती है, न उसे अपमान सूचक बातें सुनकर क्रोध आता है। ऐसे लोगों से यदि किसी लोमहर्षण अत्याचार की बात कही जाय तो मनुष्य के स्वाभाविक धर्मानुसार वे क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाई के साथ यही कहेंगे—"जाने दो' हमसे क्या मतलब ? चलो, अपना काम देखो।" याद रखिए, यह महाभयानक मानसिक रोग है इससे मनुष्य जीते जी मृतवत् हो जाता है। कविता इसी मर्ज की दवा है।

सृष्टि-सौन्दर्य

कविता सृष्टि सौन्दर्य का अनुभव कराती है और मनुष्य को सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्त और कुत्सित वस्तुओं से विरक्त करती है। कविता जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुख आदि का सौन्दर्य चित्त में अंकित करती है उसी प्रकार, सौन्दर्य, वीरता, त्याग, दया इत्यादि का सौन्दर्य भी दिखाती है। जिस प्रकार वह रौरव नरक और गंदी गलियों की वीभत्सता दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्षा आदि को जघन्यता भी। यहीं तक नहीं, जिन वृत्तियों का प्रायः बुरा रूप ही हम संसार में देखा करते हैं उनका सुन्दर रूप भी वह अलग करके दिखाती है। दशवदन-निधनकारी राम के क्रोध के सौन्दर्य पर कौन मोहित न होगा ? जो कविता रमणी के रूप-सौन्दर्य से हमें आह्लादित करती है वही उसके अंतःकरण की सुन्दरता और कोमलता आदि की मनोहारिणी छाया दिखा कर मुग्ध भी करती है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ के ऊपर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग-प्रत्यंग की शोभा को अंकित किया है उसी ने आयशा के अंतःकरण की अपूर्व सात्विक ज्योति दिखाकर पाठकों को चमत्कृत किया है। बाह्य सौन्दर्य के अवलोकन से हमारी आत्मा को जिस

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

प्रकार सन्तोष होता है उसी प्रकार मानसिक सौन्दर्य से भी। जिस प्रकार वन, नदी, पर्वत, झरने आदि से हम आह्लादित होते हैं उसी प्रकार मानसिक अतःकरण में प्रेम, स्वार्थत्याग, दया, दाक्षिण्य, करुणा, भक्ति आदि उदात्त वृत्तियों को प्रतिष्ठित देख हम आनन्दित होते हैं। यदि इन दोनों वाह्य और आभ्यन्तर सौन्दर्यों का संयोग कहीं दिखाई पड़े तो फिर क्या कहना है? यदि किसी अत्यन्त सुन्दर पुरुष या अत्यन्त रूपवती स्त्री के रूप मात्र का वर्णन करके हम छोड़ दें तो चित्र अपूर्ण होगा; किन्तु यदि हम साथ ही हृदय की दृढ़ता और सत्यप्रियता अथवा कोमलता और स्नेह-शीलता आदि की भी झलक दिखाएँ तो उस वर्णन में सजीवता आ जायगी।

बात यह है कि कविता सौन्दर्य और सात्त्विकशीलता या कर्त्तव्य परायणता में भेद नहीं देखा चाहती। इसी से उत्कर्ष-साधन के लिए कवियों ने प्रायः रूप सौन्दर्य और अंतःकरण के सौन्दर्य का मेल कराया है। राम का रूप-माधुर्य और रावण का विकराल रूप अन्तःकरण के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। वाह्य प्रकृति को भी मिला लेने से वर्णन का प्रभाव कभी कभी बहुत बढ़ जाता है। चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों के रम्य अन्तःकरण की छटा का क्या कहना है!

कविता का दुरुपयोग

जो लोग स्वार्थवश व्यर्थ की प्रशंसा और खुशामद करके वाणी का दुरुपयोग करते हैं वे सरस्वती का गला घोंटते हैं। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों को कविता न करनी चाहिए। कविता उच्चाशय, उदार और निःस्वार्थ हृदय की उपज है। सत्कवि मनुष्य-मात्र के हृदय में सौन्दर्य का प्रवाह बहाने वाला है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक सब समान है। वह उन्हें मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं समझता। जिस प्रकार महल में रहनेवाले बादशाह के वास्तविक सद्गुणों की वह प्रशंसा करता है उसी प्रकार झोपड़े में रहने-

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

वाले किसान के सद्गुणों की भी। श्रीमानों के शुभागमन की कविता लिखना और बात बात पर उनको बधाई देना सत्कवि का काम नहीं। हाँ, जिसने निःस्वार्थ होकर और कष्ट सहकर देश और समाज की सेवा की है, दूसरों का हित-साधन किया है, धर्म का पालन किया है ऐसे परोपकारी महात्मा का गुणगान करना उसका कर्त्तव्य है।

कविता की भाषा

मनुष्य स्वभाव ही से प्राचीन पुरुषों और वस्तुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। पुराने शब्द हम लोगों को मालूम ही रहते हैं। इसी से कविता में कुछ न कुछ पुराने शब्द आ ही जाते हैं। उनका थोड़ा बहुत बना रहना अच्छा भी है। वे आधुनिक और पुरातन कविता के बीच संबंध सूत्र का काम देते हैं। हिन्दी में 'राजते हैं', 'गहते हैं', 'लहके हैं' 'सरसाते हैं' आदि प्रयोगों का खड़ी बोली तक की कविता में बना रहना कोई अचम्भे की बात नहीं। अंगरेजी कविता में भी ऐसे शब्दों का अभाव नहीं जिनका व्यवहार बहुत पुराने जमाने से कविता में होता आया है। 'Main' Swain' (मेन स्वेन) आदि शब्द ऐसे ही हैं। अंगरेजी कविता समझने के लिए इनसे परिचित होना पड़ता है। पर ऐसे शब्द बहुत थोड़े आने चाहिएँ; वे भी ऐसे जो भद्दे और गँवारू न हों। खड़ी बोली में संयुक्त क्रियाएँ बहुत लम्बी होती हैं;—जैसे 'लाभ करते हैं', 'प्रकाश करते हैं' आदि कविता में इनके स्थान पर 'लहते हैं', प्रकाशते हैं' कर देने से कोई हानि नहीं। पर यह बात इस तरह के सभी शब्दों के लिए ठीक नहीं हो सकती।

कविता में कही गई बात चित्र रूप में हमारे सामने आती है, संकेत रूप में नहीं। अतः उसमें गोचर रूपों का ही विधान अधिकतर होता है। वह ऐसे ही व्यापारों को लेती है जो संसार में सबसे अधिक मनुष्यों को

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

सबसे अधिक दिखाई पड़ते हैं। उसमें प्रत्यक्ष और स्वभावसिद्ध व्यापार-सूचक शब्दों की संख्या अधिक रहती है। 'समय बीता जाता है' कहने की अपेक्षा 'समय भागा जाता है' कहना अधिक काव्यसंमत है किसी काम से 'हाथ खींचना', किसी का रुपया 'खा जाना', बात 'पी जाना', 'दिन ढलना या डूबना', 'मन मारना', 'मन छूना', 'शोभा बरसाना' आदि ऐसे ही कवि समयसिद्ध वाक्य हैं जो बोलचाल में आ गए हैं। नीचे कुछ पद्य उदाहरण स्वरूप दिए जाते हैं—

(क) धन्य भूमि बन पंथ पहारा।
जँह जँह नाथ **पाँव तुम धारा**।—तुलसी

(ख) मनहुँ **उमगि** अँग अँग छवि छलकै।—तुलसी

(ग) चूनर चारु **हुई सी** परै।

(घ) बीथिन में व्रज में नवेलिन में बेलिन बनन में बागन में **बगरो** बसन्त है।—पद्माकर

बहुत से ऐसे शब्द जिनसे एक ही का नहीं किन्तु कई क्रियाओं का एक ही साथ बोध होता है। ऐसे शब्दों को हम मिश्रसंकेत कह सकते हैं। किसी ने कहा "वहाँ बड़ा अत्याचार हो रहा है" इस अत्याचार शब्द के अन्तर्गत मारना-पीटना, डाटना-डपटना, लूटना-पाटना इत्यादि बहुत से व्यापार हो सकते हैं। अतः 'अत्याचार' शब्द के सुनने से उन सब व्यापारों का एक मिला-जुला अस्पष्ट भाव अन्तःकरण में आता है, कल्पना में किसी एक व्यापार का स्पष्ट चित्र अंकित नहीं होता। इससे यह शब्द कविता के काम का नहीं है। ऐसे शब्द वैज्ञानिक विषयों में अधिक आते हैं उनमें से कुछ शब्द तो एक विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। विज्ञानवेत्ता को किसी बात की सत्यता या असत्यता के निर्णय की जल्दी रहती है। इससे वह कई बातों को एक मानकर अपना काम चलाता है; प्रत्येक काम को पृथक्-पृथक् दृष्टि से नहीं देखता। यही कारण है जो वह ऐसे शब्द अधिक व्यवहार करता है जिनसे कई क्रियाओं से घटित एक ही

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

भाव का अर्थ निकलता है। परन्तु कविता प्राकृतिक व्यापारों को कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष करती है—मानवहृदय पर अंकित करती है। अतएव पूर्वोक्त प्रकार के शब्द अधिक लाने से कविता के प्रसाद गुण की हानि होती है और व्यक्त किए गए भाव हृदय पर अच्छी तरह अंकित नहीं होते। बात यह है कि मानवी कल्पना इतनी प्रशस्त नहीं कि एक ही बार में कई व्यापार उसके द्वारा हृदय पर स्पष्ट रीति से खचित हो सकें। यदि कोई ऐसा शब्द प्रयोग में लाया गया जो कई संयुक्त व्यापारों का बोधक है, तो संभव है, कल्पना-शक्ति किसी एक व्यापार को भी न ग्रहण कर सके; अथवा तदन्तर्गत कोई ऐसा व्यापार ग्रहण करे जो रागात्मिका प्रकृति का उद्दीपक न हो तात्पर्य यह कि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग तथा ऐसे शब्दों का समावेश जो किन्हीं संयुक्त व्यापारों की सूचना देते हैं, कविता में वांछित नहीं।

किसी ने 'प्रेमफौजदारी' नाम की शृंगार-रस विशिष्ट एक छोटी सी कविता अदालती कार्रवाइयों पर घटाकर लिखी है और उसे एकतरफा-डिगरी आदि कानूनी शब्दों से भर दिया है। यह उचित नहीं। कविता का उद्देश्य इसके विपरीत व्यवहार से सिद्ध होता है। जब कोई कवि किसी दार्शनिक सिद्धान्त को अधिक प्रभावोत्पादक बनाकर उसे लोगों के चित्त पर अंकित करना चाहता है तब वह जटिल और पारिभाषिक शब्दों को निकाल कर उसे अधिक प्रत्यक्ष और मर्मस्पर्शी रूप देता है। भर्तृहरि, कबीर, गोस्वामी तुलसीदास आदि इस बात में बहुत निपुण थे।

अँगरेजी में पोप कवि इस विषय में बहुत सिद्धहस्त था। नीचे उसका एक साधारण सिद्धान्त लिखा जाता है "भविष्यत् क्या होनेवाला है, इस बात की अनभिज्ञता इसलिए दी गई है जिसमें सब लोग, आनेवाले अनिष्ट की शंका से, उस अनिष्ट घटना के पूर्ववर्ती दिनों के सुख को भी न खो बैठें।" इसी बात को पोप कवि इस तरह कहता है—

उस बलि-पशु को देख आज जिसका, तू हे नर !
निज उमङ्ग में रक्त बहाएगा बेदी पर।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

होता उसको ज्ञान कहीं तेरा है जैसा।
क्रीड़ा करता कभी उछलता फिरता ऐसा?
अंतिम क्षण तक खाता-पीता काल काटता।
हनने को जो हाथ उठा है उसे चाटता।
आगम का अज्ञान ईश का परम अनुग्रह।*

'अनिष्ट' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक और संदिग्ध है अतः कवि मृत्यु ही को सबसे अधिक अनिष्ट वस्तु समझता है। मृत्यु की आशंका से प्राणिमात्र का विचलित होना स्वाभाविक है। कवि दिखलाता है कि पशु भी मृत्यु के शिर पर नाचते रहते खाता-पीता जाता है, यहाँ तक कि वह प्रहारकर्ता के हाथ को भी चाटता जाता है, यह एक अद्‌भुत और मर्मस्पर्शी दृश्य है। पूर्वोक्त सिद्धान्त को यहाँ काव्य का रूप प्राप्त हुआ है।

एक और साधारण सा उदाहरण लीजिए। 'तुमने उससे विवाह किया' एक बहुत ही साधारण वाक्य है। पर 'तुमने हाथ पकड़ा' यह एक विशेष अर्थ-गर्भित और काव्योचित वाक्य है। 'विवाह' शब्द के अन्तर्गत बहुत से विधान हैं जिन पर सब कोई एक दफे दृष्टि नहीं डाल सकते। अतः उससे कोई बात स्पष्ट रूप से कल्पना में नहीं आती। इस कारण इन विधानों में से सबसे प्रधान और स्वाभाविक बात जो हाथ पकड़ना है उसे चुनकर कवि अपने अर्थ को मनुष्य के हृदयपटल पर रेखांकित करता है।

---

* The lamb thy riot dooms to bleed to day
Had he thy reason would he skip and play?
Pleased to the last he crops the flowery food,
And licks the hand just-raised to shed his blood.
The blindness to the future kindly given.
—Essay on Man.

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

श्रुति-सुखदता

कविता की बोली और साधारण बोली में बड़ा अन्तर है। "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" और "नीरसतरुरिह विलसति पुरतः" वाली बात हमारी पंडित-मंडली में बहुत दिन से चली आती है। भाव-सौंदर्य और नाद-सौन्दर्य दोनों के संयोग से कविता की सृष्टि होती है। श्रुतिकटु मानकर कुछ अक्षरों का परित्याग, वृत्त-विधान और अंत्यानुप्रास का बन्धन, इसी नाद-सौन्दर्य के निबाहने के लिए है। बिना इसके कविता करना, अथवा इसी को सर्वस्व मानकर कविता करने की कोशिश करना, निष्फल है। नाद-सौन्दर्य के साथ भाव-सौन्दर्य भी होना चाहिए। हिन्दी के कुछ पुराने कवि नाद-सौन्दर्य के इतने पीछे पड़ गए थे कि उनकी अधिकांश कविता विकृत और प्रायः भावशून्य हो गई है यह देख आजकल के कुछ समालोचक इतना चिढ़ गए हैं कि ऐसी कविता को एकदम निकाल बाहर करना चाहते हैं। किसी को अंत्यानुप्रास का बन्धन खलता है; कोई गणात्मक छन्दों को देखकर नाक भौं चढ़ाता है; कोई फारसी के मुखम्मस और रुबाई की ओर झुकता है। हमारी छन्दोरचना तक की कोई-कोई अवहेलना करते हैं—वह छन्दो-रचना जिसके माधुर्य को भू-मंडल के किसी देश का छंद शास्त्र नहीं पा सकता और हमारी श्रुति-सुखदता के स्वाभाविक प्रेम के सर्वथा अनुकूल है जो लोग अंत्यानुप्रास की बिलकुल आवश्यकता नहीं समझते उनसे मुझे यही पूछना है कि अंत्यानुप्रास ही पर इतना कोप क्यों ? छन्द और तुक दोनों ही नाद-सौन्दर्य के उद्देश्य से रखे गए हैं। फिर क्यों एक निकाला जाय, दूसरा नहीं ? यदि कहा जाय कि सिर्फ छन्द ही से उस उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है तो यह जानने की इच्छा बनी रहती है कि क्या कविता के लिए नाद-सौन्दर्य की कोई सीमा नियमित है। यदि किसी कविता में भाव-सौन्दर्य भी वर्तमान हो तो वह अधिक ओजस्विनी और चिरस्थायिनी होगी। नाद-सौन्दर्य कविता के स्थायित्व का वर्द्धक है, उसके बल से कविता

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

ग्रन्थाश्रयविहीन होने पर भी किसी न किसी अंश में लोगों की जिह्वा पर बनी रहती है। अतएव इन नाद-सौन्दर्य को केवल बन्धन ही न समझना चाहिए। यह कविता की आत्मा नहीं तो शरीर अवश्य है।

नाद-सौन्दर्य-सम्बन्धी नियमों को गणित-क्रिया के समान काम में लाने से हमारी कविता में कहीं-कहीं बड़ी विलक्षणता आ गई है। श्रुतिकटुवर्णों का निर्देश इसलिए नहीं किया गया कि जितने अक्षर श्रवण-कटु हैं वे एकदम त्याज्य समझे जायँ और उनकी जगह पर श्रवण-सुखद वर्ण ढूँढ़-ढूँढ़कर रखे जायँ। इस नियम-निर्देश का मतलब इतना ही है कि यदि मधुराक्षरवाले शब्द मिल सकें और बिना तोड़मरोड़ के प्रसंगानुसार खप सकें तो उनके स्थान पर श्रुति-कर्कश अक्षरवाले शब्द न लाए जायँ। संस्कृत से संबंध रखनेवाली भाषाओं में इस नाद-सौन्दर्य का निर्वाह अधिकता से हो सकता है। अतः अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं की देखा-देखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को भी हमें इस विशेषता से वंचित कर देना बुद्धिमानी का काम नहीं। पर, याद रहे, सिर्फ श्रुतिमधुर अक्षरों के पीछे दीवाने रहना और कविता को अन्यान्य गुणों से भूषित न करना सबसे बड़ा दोष है।

एक और विशेषता हमारी कविता में है। वह यह है कि कहीं-कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप, गुण या कार्य-बोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। यों देखने में पद्य के नपे हुए चरणों में खपाने के लिए शब्दों की संख्या का बढ़ना ही इसका प्रयोजन जान पड़ता है; पर विचार करने से इसका इससे भी गुरुतर उद्देश्य प्रकट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं जिनसे कविता की परिपोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक होने के कारण सुननेवाले के ध्यान में अधिक आ सकते हैं और प्रसंग-विशेष के अनुकूल होने से वर्णन की

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

यथार्थता को बढ़ाते हैं। गिरिधर, मुरारी, त्रिपुरारि, दीनबन्धु, चक्रपाणि, दशमुख आदि शब्द ऐसे ही हैं। ऐसे शब्दों को चुनते समय प्रसंग या अवसर का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए 'हे गोपिका-रमण !' 'हे वृन्दावन-विहारी !' आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि !' 'हे कंसनिकंदन !' आदि संबोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा मुर और कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा हुई है, न कि उनका वृन्दावन के गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को 'मुरलीधर' कहकर पुकारने की अपेक्षा 'गिरिधर' कहना अधिक अर्थसंगत है।

अलंकार

कविता में भाषा को खूब जोरदार बनाना पड़ता है—उसकी सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार का चित्र चटकीला करने और रस-परिपाक के लिए कभी किसी वस्तु के रूप और गुण को वैसी ही और वस्तुओं के साहचर्य द्वारा और मनोरंजक बनाने के लिए उसके समान रूप और धर्मवाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। इस तरह की भिन्न-भिन्न वर्णन-प्रणालियों का नाम अलंकार है। इनका उपयोग काव्य में प्रसंगानुसार विशेष रूप से होता है। इनसे वस्तु-वर्णन में बहुत सहायता मिलती है। कहीं-कहीं तो इनके बिना कविता का काम ही नहीं चल सकता। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि अलंकार ही कविता है। अलंकार बोल-चाल में भी रोज आते रहते हैं। जैसे, लोग कहते हैं "जिसने शालग्राम को भून डाला उसे भंटा भूनते क्या लगता है ?" ये काव्य नहीं कहे जा सकते। जहाँ किसी प्रकार की रसव्यंजना होगी वहीं किसी वर्णन-प्रणाली को अलंकारता प्राप्त हो सकती है।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

कई वर्ष हुए 'अलंकारप्रकाश' नामक पुस्तक के कर्ता का एक लेख 'सरस्वती' में निकला था। उसका नाम था 'कवि और काव्य' उसमें उन्होंने अलंकारों की प्रधानता स्थापित करते हुए और उन्हें काव्य का सर्वस्व मानते हुए लिखा था कि "आजकल के बहुत से विद्वानों का मत विदेशी भाषा के प्रभाव से काव्य-विषय में कुछ परिवर्तित देख पड़ता है। वे महाशय सर्व-लोकमान्य साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन किए हुए अलंकार-युक्त काव्य को उत्कृष्ट न समझ केवल सृष्टिवैचित्र्य-वर्णन में काव्यत्व समझते हैं।" यदि ऐसा है तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? रस और भाव ही कविता के प्राण हैं। पुराने विद्वान् रसात्मक कविता ही को कविता कहते थे। रसों अथवा मनोविकारों के यथेष्ट परिपाक ही की ओर उनका ध्यान अधिक था। अलंकारों को वे आवश्यकतानुसार वर्णित विषय को विशेषतया हृदयंगम कराने के लिए ही लाते थे। यह नहीं समझा जाता था कि अलंकार के बिना कविता हो ही नहीं सकती। स्वयं काव्यप्रकाश के कर्ता मम्मटाचार्य ने बिना अलंकार के काव्य का होना माना है और उदाहरण भी दिया है— "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।" किन्तु पीछे से इन अलंकारों ही में काव्यत्व मान लेने से कविता अभ्यासगम्य और सुगमप्रतीत होने लगी। इसी से लोग उनकी ओर अधिक झुक पड़े। धीरे-धीरे इन अलंकारों के लिए आग्रह बढ़ने लगा, यहाँ तक की चंद्रालोककार ने लिख डाला—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

अर्थात् जो अलंकाररहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं मानता ? किंन्तु यथार्थ बात कब तक छिपाई जा सकती है। इतने दिनों पीछे समय ने फिर पलटा खाया। विचारशील लोगों पर यह बात प्रकट हो गई कि रसात्मक वाक्यों ही का नाम कविता है और रस ही कविता की आत्मा है।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

इस विषय में पूर्वोक्त ग्रन्थकार महोदय को एक बात कहनी थी; पर उन्होंने नहीं कही। वे कह सकते थे कि सृष्टि-वैचित्र्य वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार है। इसका उत्तर यह है कि स्वभावोक्ति को अलंकार मानना उचित नहीं। वह अलंकार की श्रेणी में आ ही नहीं सकती। वर्णन करने की प्रणाली का नाम अलंकार है। जिस वस्तु को हम चाहें उस प्रणाली के अन्तर्गत करके उसका वर्णन कर सकते हैं। किसी वस्तु विशेष से उसका सम्बन्ध न होना चाहिए। वस्तुनिर्देश अलंकार का विषय नहीं, वह यथार्थ में रस का विषय है। अलंकार वर्णनशैली मात्र को कह सकते हैं। इस दृष्टि से कई अलंकार ऐसे हैं जिन्हें अलंकार नहीं कहना चाहिए; जैसे, स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति से भिन्न अत्युक्ति, स्मरण, अल्प, उदात्त। स्वभावोक्ति में वर्ण्य वस्तु का निर्देश है; पर वस्तु निर्वाचन अलंकार का काम नहीं। इससे स्वभावोक्ति को अलंकार मानना ठीक नहीं। उसे अलंकार में गिननेवालों ने बहुत सिर खपाया है; पर उसका निर्दोष लक्षण नहीं कह सके। काव्यप्रकाश के कारिकाकार ने उसका लक्षण लिखा है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।

अर्थात् जिसमें बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है। बालकादिक कहने से किसी वस्तुविशेष का बोध तो होता नहीं। इससे यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के व्यापार और रूप का वर्णन स्वभावोक्ति है। इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष के कारण अलंकारता नहीं आती। अलंकार-सर्वस्व के कर्ता राजानक रुय्यक ने इसका यह लक्षण लिखा है—

सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

अर्थात् वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का ठीक-ठीक वर्णन करना स्वभावोक्ति है। आचार्य दंडी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा—

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकार के अन्तर्गत आ ही नहीं सकती; क्योंकि वर्णन करने की प्रणाली नहीं, किन्तु वर्ण्य वस्तु या विषय है।

जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलङ्कार धारण करने से सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार अस्वाविक, भद्दे और क्षुद्र भावों को अलङ्कार-स्थापना सुन्दर और मनोहर नहीं बना सकती। महाराज भोज ने भी अलङ्कार को 'अलमर्थमलंकर्तुः' अर्थात् सुन्दर अर्थ को शोभित करनेवाला ही कहा है। इस कथन से अलंकार आने के पहले ही कविता की सुन्दरता सिद्ध है। अतः उसे अलंकारों में ढूँढ़ना भूल है। अलंकारों से युक्त बहुत से ऐसे काव्योदाहरण दिए जा सकते हैं जिनको अलंकार के प्रेमी लोग भी भद्दा और नीरस कहने में संकोच न करेंगे। इसी तरह बहुत से ऐसे उदाहरण भी दिए जा सकते हैं जिनमें एक भी अलंकार नहीं; किन्तु उनके सौन्दर्य और मनोरञ्जकत्व को सब स्वीकार करेंगे। जिन वाक्यों से मनुष्य के चित्त में रस-संचार न हो—उसकी मानसिक स्थिति में कोई परिवर्तन न हो—वे कदापि काव्य नहीं। अलंकार शास्त्र की कुछ बातें ऐसी हैं जो शब्द-चातुरी मात्र हैं। शब्दकौशल के कारण वे चित्त को चमत्कृत करती हैं। उनसे रस-संचार नहीं होता। वे चमत्कृत चाहे भले ही करें, पर मानव-हृदय के स्रोतों से उनका विशेष सम्बन्ध नहीं। उनका चमत्कार शिल्पकारों की कारीगरी के समान सिर्फ शिल्प-प्रदर्शिनी में रखने ही योग्य होता है।

अलंकार है क्या वस्तु? विद्वानों ने काव्यों के सुन्दर-सुन्दर स्थलों को पहले चुना। फिर उनकी वर्णनशैली के सौन्दर्य का कारण ढूँढ़ा। तब वर्णन-वैचित्र्य के अनुसार भिन्न-भिन्न लक्षण बनाए; जैसे 'विकल्प' अलंकार को पहले पहल राजानक रुय्यक ने ही निकाला है। अब कौन कह सकता है कि काव्यों के जितने सुन्दर-सुन्दर स्थल थे सब ढूँढ़ डाले गए,

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

अथवा जो सुन्दर समझे गए—जिन्हें लक्ष्य करके लक्षण बने—उनकी सुन्दरता का कारण कही हुई वर्णन-प्रणाली ही थी। अलंकारों के लक्षण बनने तक काव्यों का बनना नहीं रुका रहा। आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने—"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः" का उच्चारण किसी अलंकार को ध्यान में रखकर नहीं किया। अलंकार-लक्षणों के बनने के बहुत पहले कविता होती थी। और अच्छी होती थी। अथवा यों कहना चाहिए कि जब से इन अलंकारों का हठात् लाने का उद्योग होने लगा तब से कविता कुछ बिगड़ चली।

———

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

उच्चारण

केशवप्रसाद मिश्र

(सन् १८८६-१९५०)

यदि मनुष्य में विवक्षित शब्दों के उच्चारण की शक्ति न होती तो वह निरा पशु ही रहता । न उसका ज्ञान ही बढ़ता और न उसकी मनुष्यता ही किसी काम की होती । न कोई भाषा रहती न कोई साहित्य । न छन्दों का अवतार होता न गानविद्या की सृष्टि । सभी की "अन्तर्मुंडगुडायते बहिर्न निःसरति" वाली दशा हो जाती है । संकेतों और इंगितों से, अक्षिनिकोच अथवा पाणिविहार* से कुछ साधारण प्राकृत भाव भले ही व्यक्त कर लिए जाते, पर प्रतिभा में प्रतिबिम्बित, हृदय में जागरित असाधारण भाव जहाँ के तहाँ विलीन हो जाते । विधाता की सारी कारीगरी मिट्टी हो जाती । अतः अभिलपनशक्ति को ईश्वर-दत्त एक वर समझना चाहिए ।

सबका उच्चारण एक सा नहीं होता । बोली भी एक सी नहीं होती । उसके देशाश्रित, जात्याश्रित भेद तो होते ही हैं, ग्रामाश्रित और व्यक्त्याश्रित भी होते हैं । सब अवधवासियों की बोली अवधी है सही पर वहाँ के ठाकुरों की बोली में जो ठसक होगी उसका उनके परिजनों की बोली में सर्वथा अभाव पाया जायगा । किसी के आने पर अयोध्या-प्रान्त का निवासी जहाँ

---

* अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यन्ते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च ।—महाभाष्य—२ । १ । १ ; अर्थात् आँख मटकाने और हाथ हिलाने से, बिना शब्द प्रयोग के ही, बहुत से भाव प्रगट किए जा सकते हैं ।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

'के है ?' पूछेगा, वहाँ हमारे बैसवाड़ी भाई गरजकर बोलेंगे—'को आय ?' हमारे देखते 'वाजपेयी जी' को मजूरों ने 'बास बेइल, महराज' बना डाला। संस्कृत 'नवक' बहुत दिनों तक 'नोखा' था और 'नोखे की नाइन बाँस की नरहन' में अब तक दिखाई पड़ जाता है; पर आजकल उसने 'अ' को अगाड़ी लगाकर 'अनोखा' रूप रचा है। भोजपुरी के 'एहिजाँ चहुँपली' और पंजाबी के 'थ्वाडा मतलब की ?' पर चाहे कोई छिछोड़ हँसोड़ खीसें काढ़े, किंतु 'हिंस' ने हजारों वर्ष से 'सिंह' बनकर जो अपनी करतूत छिपाने की चेष्टा की है उसे कौन रोकता है। जिसे कानों से सुनने और आँखों से देखने की प्रार्थना हम देवों से किया करते थे* उस 'भद्र' के दो बेटे हुए एक 'भला' और दूसरा 'भद्दा'। बेचारे बुद्धू के 'सत्तू' का 'फत्तू' कहने पर सब हँसते हैं; पर सारा जापान 'फ़िफ्टी' (Fifty) को 'सिफ्टी' कहता है तो कोई नहीं हँसता। कल के 'उपाध्याय' घिसते घिसते 'झा' रह गए; पर ऋग्वेद के 'राजा' राजा ही बने हैं। अस्तु।

मनुष्यों के अतिरिक्त पशु-पक्षियों में भी बोली के भेदक कारण अपना काम करते हैं। पहाड़ी मैना सुन सुनकर टपाटप हमारी बोली बोलने लगती है; पर यहाँ की सिरोही मौत के दिन तक सिवा टें टें करने के और कुछ जानती ही नहीं। हिमालय के कौवों की बोली इतनी टर्रा नहीं होती जितनी यहाँ वालों की। यहाँ का देशी लाल लाहौरी लाल की शहनाई का सुर भर सकता है, पर स्वयं नहीं बजा सकता। और तो और एक ही कंपनी के बनाए हार्मोनियमों और एक ही कारीगर के साजे सितारों की बोल भी एक सी नहीं होती।

बोली ही नहीं, सबके पढ़ने का ढंग भी निराला होता है। इसके उदाहरणों की आवश्यकता तो नहीं थी, पर कुतूहलवश आज से हजार

---

*भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः—यजुर्वेद, २५।२१

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

वर्ष पहले किस प्रान्त के वास्तव्य किस ढंग से पढ़ा करते थे इसका उल्लेख राजशेखर के शब्दों में किया जाता है—

बनारस से पूर्व के मगध आदि संस्कृत तो अच्छा पढ़ लेते हैं, पर प्राकृत उनके मुँह से नहीं निकलती, प्राकृत बोलने में उनकी वाणी कुंठित सी हो जाती है। कहते हैं, सरस्वती एक दिन ब्रह्मदेव से फरियाद करने लगीं—ब्रह्मन् मैं आपको इत्तला देती हूँ, आप मेरा इस्तीफा ले लीजिए। या तो बंगाली गाथा (प्राकृत कविता) पढ़ना छोड़ दें या कोई दूसरी सरस्वती बनाई जाय !* बंगाली ब्राह्मणों का पढ़ना न अतिस्पष्ट होता है न श्लिष्ट। न उसे रूक्ष कह सकते हैं न अतिकोमल। न गम्भीर ही न अतिशीघ्र ही। न गुड़ मीठा न गुड़ तीता। चाहे कोई रस, रीति या गुण हो कर्णाटक पढ़ेंगे तब गर्व से अन्त में टंकारा अवश्य देंगे। गद्य, पद्य, मिश्र कैसा ही काव्य हो द्रविड़ कवि गाकर ही पढ़ेगा। संस्कृत के शत्रु लाट (गुजराती) प्राकृत बड़ी लटक से पढ़ते हैं क्योंकि ललित आलाप करते करते उनकी जिह्वा पर सौन्दर्य की मुहर सी लगी होती है। सुराष्ट्र (सोरठ—गुजरात काठियावाड़) और त्रवण (पश्चिमी राजपुताना) आदि के लोग बहुत ही अच्छी तरह संस्कृत में भी अपभ्रंश का पुट देकर पढ़ते हैं। शारदा के प्रसाद से काश्मीरी सुकवि तो होते हैं, पर उनका पढ़ना कानों में गुर्च की पिचकारी देना है। उत्तरपथ के कवि, चाहे कैसे ही सुसंस्कृत क्यों न हों, जब पढ़ेंगे तब नाकी देकर। जिसमें प्रत्येक ध्वनि ठिकाने की होती है, वर्ण स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं, यतियों का विभाग रहता है, वह पांचाल (रुहेलखंड) के कवियों का गुणनिधि तथा सुन्दर पाठ कानों में मानों शहद बरसाता है। उसका कहना ही क्या ? लकारों की लड़ी

---

* × × × ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती॥ × × ×

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

और रेफों की फर्राहट के साथ ऐंठ ऐंठकर बोलना शोहदों का अच्छा लगता है, भव्य काव्यज्ञों का नहीं* ।

इस प्रकार दो बातें विदित होती हैं । एक यह है कि कण्ठ, तालु आदि उच्चारण-स्थानों की समानता होते हुए भी सबका उच्चारण अथवा पाठक्रम एक सा नहीं होता और दूसरी यह कि भाषा में परिवर्तन उत्पन्न करनेवाला सबसे बड़ा कारण यही अशक्ति अथवा प्रमाद-जन्य उच्चारण है ।

इस देश में उच्चारण को व्यवस्थित रखने का उद्योग बहुत दिनों से होता आया है । वेद के छः अङ्गों में शिक्षा प्रधान अङ्ग है । पाणिनी आदि मुनियों ने उच्चारण-विषयक अपने-अपने अनुभवों की पृथक् पृथक् शिक्षा दी है । शिक्षा वेद की नाक है† । उच्चारण ठीक नहीं हुआ तो समझना चाहिए कि वेद की नाक कट गई ।

एक दिन पाणिनि भगवान् अपने आश्रम में विराजमान थे । आसपास सभी जीव जन्तु सहज वैर भूलकर सुख से विचरते थे । अकस्मात् उनकी दृष्टि एक शेरनी पर पड़ी । वह अपनी दाढ़ों में पकड़कर अपना बच्चा ले जा रही थी । बच्चा खूब प्रसन्न था । न वह गिरता था और न उसे दाँत ही चुभते थे । ऋषि निरीक्षण कर रहे थे, बोल उठे—वाह ! क्या सफाई से बच्चे को उठाया है ! क्या ही अच्छा हो यदि उच्चारण करनेवाले भी इसी शेरनी की तरह वर्णों को न तो काट खायँ और न मुँह से बिखर जाने दें ‡।

अनुनासिक या गुन्ना को संस्कृत में रंग भी कहते हैं । स्वर के उच्चारण में रंगत लाने के लिए इसका उपयोग होता है । मुनि ने सूरत की किसी

---

*ललल्लकारया जिह्वां जर्जरस्फाररेफया ।
गिरा भुजंगाः पूज्यन्ते काव्यभव्यधियो न तु ।।—काव्यमीमांसा, ७ ।

† शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य × × ×—पाणिनिशिक्षा, ४२ ।

‡ व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत् ।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत् ।।–पाणिनिशिक्षा, २५ ।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

महिला को अपने ढंग से 'तक्र" कहते सुना था, अतः अपनी शिक्षा में यह भी लिख गए कि रंग बोलना तो बस सौराष्ट्रिका नारी से सीखना चाहिए *।

आजकल जिस प्रकार अङ्गरेजी के उच्चारण और स्वर-संचार (Accentuation) पर विशेष ध्यान दिया जाता है वेदपाठ में उससे किसी प्रकार कम ध्यान नहीं दिया जाता था। किसी प्रकार का अपपाठ उपेक्षणीय नहीं माना जाता था। हजारों वर्ष पहले कुछ बड़े ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे। धर्म तो मानों उन्हें प्रत्यक्ष था। वे परा और अपरा दोनों विद्याओं के पारगामी विद्वान् थे। कोई ऐसा वेदितव्य विषय नहीं जो उन्हें विदित न हो। कोई ऐसा तत्त्व नहीं जिसकी उपलब्धि उन्हें न हुई हो। किन्तु एक बात थी। वे 'यद्वा नः तद्वा नः' के स्थान पर 'यर्वाणः तर्वाणः' बोला करते थे। इस तकिया-कलाम के वे ऐसे आदी थे कि लोगों ने उनका नाम यर्वाणः तर्वाणः रख छोड़ा था। बेचारे इसके लिए बदनाम थे†! हमारे क्वींस कालेज के परलोकगत प्रोफेसर 'हरिकमल नर्मा' (Prof. Henry Cromwell Norman) Calculation को विचित्र ढंग से 'कालकुलेशन' कहा करते थे। अतः विद्यार्थी मण्डली में वे भी उसी नाम से प्रख्यात थे। उच्चारण में एक अशुद्धि करनेवाले को 'एकान्यिक', दो अशुद्धि वाले को द्व्यान्यिक एवं एकादशान्यिक द्वादशान्यिक आदि कहते थे। पाणिनि ने इस प्रयोग (मुहावरे) के लिए दो सूत्र पृथक् ही रचे हैं‡। अङ्गरेजी में स्वरसंचार की भूल केवल वक्ता को हीन और कवि को निष्क्रिय

---

*यथासौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते। एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्य,···वही, २६।

† एवं हि श्रूयते—'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परापरज्ञाः विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः।' ते तत्रभवन्तो यद्वा नस्तद्व न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते।·····महाभाष्य, प्रथम पस्पशाह्निक।

‡ कर्माध्ययने वृत्तम्। अष्टाध्या० ४।४।६३। और बह्वच्पूर्वपदाट्ठञ्। वही ४।४।६४।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundin

बनाती है, पर प्राचीन काल में यहाँ तो वह प्राणों पर आ पड़ती थी। बेचारा इन्द्र-शत्रु वृत्र पुरोहितजी की इस भूल से निर्मूल हो गया था। हमारी बोली में भी स्वरसंचार का महत्त्व कुछ कम नहीं है। 'चल' कहने पर हमारा मित्र चलने लगता है, पर 'चल' कहते ही उसकी त्योरी बदल जाती है। आज से प्रायः बाइस सौ वर्ष पहले पतंजलि देव के समय, यदि कोई विद्यार्थी उदात्त का अनुदात्त कर बैठता तो चपत खाता था*। हाँ, प्रसंगात् एक बात याद आ गई। कश्मीर के राजा जयापीड के महामंत्री दामोदर गुप्त (सं० ८११-८४२ वै०) ने काशी के तत्कालीन वेदाध्यापकों की एक अच्छी मीठी चुटकी ली है। उन्होंने लिखा है कि काशी में नूपुरों की ऐसी झनकार होती है कि वेदाध्यापक शिष्यों की अशुद्धियाँ सुन नहीं पाते †। चलिये बेचारे विद्यार्थी चपत खाने से बचे !

उच्चारण में आशक्ति और प्रमाद के कारण ही परम पावन वैदिक भाषा बिगड़ते-बिगडते आज क्या की क्या हो गई ! भर्तृहरि ने निर्गुण वक्ताओं को कोसते हुये देववाणी की इस दुर्दशा पर गरम आँसू बहाये हैं ‡। शल्क का छिलका या छिकला वाल्मीक का बाँबी या बिमोट, मनीषा का मंशा, विद्युत् का वैजा, अविधवात्व का अहिवात, तोक का खोका (बं०), दुर्याः (वै०) का डेरा, संपर्य (वै०) पूजा करना का सपरना (बुंदेल० नहाना), पराके (वै० दूर) का फरके (पूर्वी० अलग), प्रष्ट

* एवं हि दृश्यते लोके–य उदात्ते कर्त्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति अन्यत्वं करोषीति। वृद्धिरादैच् १।१।१ का भाष्य।

† यत्र च रमणीभूषणरवबधिरितसकलदिङ् नभोभागे।
शिष्याणाचार्यैर्नाविद्यं वार्यते पठताम् ॥ कुट्टनीमत ।८।

‡ पारम्पर्यादपभ्रंशा निर्गुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागताः × × ×—वाक्यपदीय। १। १५५
दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः × × ×—वही,१५६

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

का ब्रिड़िया और संज्ञा का सान आदि किसने किया ? वैदिक भाषा अति प्राचीन है। बहुत से परिवर्तन भुगत चुकी है। उसे छोड़िए। अभी कल की आई अंग्रेजी इस प्रकार बदल चली है कि बड़े-बड़े विद्वान् मूलान्वेषण में गोते खा जाते हैं। 'लिबड़ी बरताना' लेकर भागे, सब बोलते हैं पर यह नहीं जानते कि यह लिबड़ी बरताना Livery Baton का बेटा है।

यदि उच्चारण की भ्रष्टता रोकने के उपाय न होते रहें तो कोई भाषा अपनी पूर्ण आयु न भोग सके। बीच ही में लोग उसका अंग-भंग कर डालें। जिस भाषा में असवर्ण संयोग अधिक होगा उसके विकृत होने की अधिक आशंका रहेगी और उसकी विकृति रोकने का प्रयत्न अधिक करना पड़ेगा। किसी वर्ण के उच्चारण करने में कितना प्रयत्न करना पड़ता है इसका बोध निरंतर अभ्यास के आवरण में छिपा रहता है। पाणिनि मुनि का मत है कि सर्वोच्चारण के पूर्व अन्तःकरण, संस्कार रूप से अपने में वर्तमान अर्थों में से कुछ को अपनी वृत्ति—बुद्धि के द्वारा किसी प्रासंगिक विषय के अनुकूल बनाकर उन्हें अभिव्यक्त करने की इच्छा मन में उत्पन्न करता है। उस इच्छा को लेकर मन शरीर की अग्नि को छेड़ता है। कायाग्नि भभककर वायु को प्रेरित करती है। ताप से स्फीत होकर वायु मूर्धा की ओर बढ़ती और उससे टकराकर लौटने के समय मुख के कंठ, तालु, जिह्वामूल आदि स्थानों पर आघात करती है। तब कहीं वर्ण मुँह से बाहर आते हैं*। यदि कहीं वे वर्ण भिन्न-भिन्न स्थानों से उच्चार्य होने पर भी संयुक्त हुए तो और आफत है। ऐतरेयारण्यक में वाणी और

---

* आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। पा० शि० ६।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते × × × × वही, ६। एवं नागेशभट्टकृत उसकी व्याख्या (शब्देन्दुशेखर, संज्ञा प्रकरण)

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

भाषण के समय प्राण वाणी में रहता है। वाणी उस समय प्राण को चाटती रहती है। चुप रहने और सोने के समय वाणी प्राण में लीन रहती है। प्राण उस समय वाणी को चाटता रहता है*। भला सोचिए तो ऐसे क्लेशसाध्य काम में कौन यथाशक्य सौकर्य न चाहेगा। इसीलिए तो हरिश्चन्द्र ने लिखा है—"सिर भारी चीज है इसे तकलीफ हो तो हो, पर जीभ विचारी को सताना नहीं अच्छा।"

इस उच्चारण-सौकर्य, मुख-सुख अथवा Euphony के आधार पर ही संधि-नियमों की सृष्टि हुई है। भाष्यकार पतंजलि को मुख-सुख का बड़ा ख्याल रहता है। जब किसी वर्ण की सार्थकता प्रकारान्तर से नहीं दिखलाते तो यही कह दिया करते हैं कि अमुक वर्ण मुख-सुख के लिए है। मुख-सुख ही के लिए प्रसिद्ध निषेधार्थक in, pure के पहले Im हो जाता है और Cup + board कबर्ड उच्चारित होता है। अँगरेजी व्याकरण में चाहे इसके लिए नियम न हों; पर प्रधानतः वैज्ञानिक तकुटी (टकुँरी) पर काते गए हमारे पाणिनी बाबा के सूत्र यहाँ भी आ बँधेंगे †।

स्वर और व्यंजन के उच्चारण में कितने और कैसे दोष होते हैं उनका विवेचन प्रातिशाख्यों में भली भाँति किया गया है। कुछ स्वरदोषों का उल्लेख पतंजलि देव ने अपने महाभाष्य के प्रथम पस्पशाह्निक में भी किया है। जैसे—

संवृत, कल (उचित से अधिक मृदु), ध्मात (अधिक श्वास लेने के कारण ह्रस्व भी दीर्घवत् लक्ष्यमाण), एणीकृत (संदिग्ध, जैसे 'ओ है प्राण का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है। लिखा है—अध्ययन

---

* तद् यत्रैतदधीते वा भाषते वा वाचि तदा प्राणो भवति। वाक् तदा प्राणं रेलिह। अथ यत्र तूष्णीं वा भवति स्वपिति वा प्राणे तदा वाग भवति। प्राणस्तदा वाचं रेलिह। ऐ० आ० ३।१।६।१४

† नश्चापदान्तस्य झलि। ८।४।२४, अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः। ८।४।५८ और झलां जशोऽन्ते। ८।२।३९।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

अथवा औ'), अंबूकृत (व्यक्त होने पर भी ऐसा जान पड़े मानों मुँह में ही है), अर्धक (दीर्घ ह्रस्ववत्), ग्रस्त (जिह्वामूल में ही अवरुद्ध), निरस्त (निष्ठुर), प्रगीत (गाया हुआ सा), उपगीत (गाए हुए-से समीपवर्त्ती वर्ण से अभिभूत), द्विवण (काँपता-सा), रोमश (गंभीर) अविलंबित (वर्णान्तर मिश्रित), निर्हत (रूक्ष), संदष्ट (बढ़ाया-सा), विकीर्ण (वर्णान्तर पर फैला हुआ-सा)। शौनक ने अपने ऋक् प्रातिशाख्य में वर्णों के स्थान, प्रयत्न, गुण आदि का वर्णन करके उक्त ग्रन्थ के चतुर्दश पटल में स्वर और व्यंजन दोषों का विस्तृत विवेचन किया है। उनमें से प्रत्येक दोष का यहाँ निर्देश कर इस लेख को अधिक एकदेशी बनाना मुझे अभीष्ट नहीं। अतः कुछ ही का उल्लेख कर इस प्रसंग को समाप्त कर देने का विचार है। प्रायः लोग उत्स को उस्त, स्नान को अस्नान ऋषि को रुषि जैसे—ऐसे और वैदश्वस्य को अय्ये, वय्यश्वस्य (जैसे 'है' के हिमायती उर्दू वाले वैर को वयर और चौर को चवर), शुनःशेप को शुनःश्येप (जैसे अपढ़ कभी कभी निंदा को निंद्या), ज्येष्ठ को जेष्ठ, दीर्घायु को दीरिर्घायु, स्वस्तये को स्वस्तए, भुवना को भुअना, सिंह को सिंघ बोला करते हैं। शौनक के मत में ये सब महादोष हैं, अतएव वर्जनीय हैं।

इस प्रकार शुद्ध उच्चारण की उपादेयता और अशुद्ध उच्चारण की हेयता का निदर्शन हो चुका। जिस प्रकार लेख में अक्षरों की सुन्दरता वाचक पर तत्काल अपना प्रभाव डालती है ; उसी प्रकार भाषण में उच्चारण की शुद्धता श्रोता को अनुकूल बना लेती है। अतः चाहे किसी भाषा का हो, उच्चारण यथाशक्य शुद्ध होना चाहिए।

यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥

—महाभाष्य।

———

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

संघर्ष

गुलाब राय

(सन् १८८७)

यद्यपि सभी युगों में थोड़ा बहुत संघर्ष रहा है, तथापि इस युग में संघर्ष की मात्रा अधिक है ; संघर्ष विश्वव्यापी हो रहा है। कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जो सघर्ष से खाली हो। धर्म का उदय मानव-समाज में ऐहिक और पारलौकिक शांति के लिए हुआ था, किंतु आजकल धर्म अशांति का केंद्र बन गया है। जो लोग धर्म से उदासीन हैं, वे भी शांत नहीं रहते। वे लोग अपनी उदासीनता को ही एक धर्म बनाकर एक प्रतिद्वंद्वी मत खड़ा कर देते हैं। भारतवर्ष में तो हिंदूमुस्लिम झगड़े जातीय जीवन पर कुठाराघात कर रहे हैं। विरोधी धर्मवाले तर्क और युक्ति को छोड़कर लाठी-डंडों का सहारा लेते हैं, एक दूसरे को हानि पहुँचाने ही में धर्म की इति-कर्तव्यता मानते और मिथ्याभिमान के कारण वास्तविक हित का बलिदान करने में गौरव और बुद्धिमत्ता समझते हैं। बहुत से सामाजिक झगड़े भी धर्म की भित्ति पर खड़े हुए हैं। प्राचीनता नवीनता का विवाद भी धर्म के सहारे ही चल रहा है। एक ओर नवीनता का घोर विरोध किया जाता है, तो दूसरी ओर प्राचीनता को ही देश की अवनति का कारण बतलाया जाता है। प्राचीन लोग यह भूल जाते हैं कि जिसे वे आज प्राचीन कहते हैं, कभी वही नवीन था ; और नवीन लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते की उसकी संतान उन्हें ही प्राचीन और दक़ियानूसी खयाल का बतलावेंगे। सामाजिक

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

क्षेत्र में जाति-पाँति और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धिनी समस्याएँ मानव-जाति को युद्धस्थली बनाए हुये हैं। वास्तव में लोग वंश-परम्परागत अधिकारों की रक्षा कर रहे हैं। जिसे जो अधिकार प्राप्त हैं, वह उन्हें सहज में नहीं छोड़ना चाहता। सारा धर्म छुआछूत और जाति-पाँति पर अवलंबित हो रहा है। स्त्री-पुरुषों में समता का ही प्रश्न नहीं है, वरन् एक दल दूसरे दल को पीछे हटाकर आगे बढ़ना चाहता है। वैवाहिक बंधन शिथिल हो गये हैं। भारतवर्ष में भी तलाक और स्वतंत्र प्रेम के पक्ष में आवाज उठाई जा रही है। दूसरी ओर पर्दा-प्रथा के पक्षपाती स्त्री-शिक्षा तक का विरोध कर रहे हैं। औद्योगिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में और सब जगहों से भी बुरा हाल है। पूँजीपति लोग समझते हैं कि रुपया ही सबसे बड़ी संचालन शक्ति है, बिना रुपए के सब काम पड़े रहते हैं। उधर मजदूर लोग यह समझते हैं कि वे ही सच्चे उत्पादक हैं। उनके बिना धन अनुत्पादक रहता है। राजनीतिक क्षेत्र में भी अधिकारों का प्रश्न है। प्राप्त अधिकारों को कोई नहीं छोड़ना चाहता। विजित जातियाँ मनुष्यों के समान अधिकारों की दुहाई देती हुई कहती हैं कि वे बंधनों में कब तक जकड़ी रहें, और विजेतागण अपने को विजित लोगों का हित-रक्षक बताते हुये इन बंधनों को रक्षा के साधन और उन्नति के विधायक सिद्ध करते हैं। अंतरराष्ट्रीय संघर्ष भी कुछ कम अशांतिजनक नहीं। निरस्त्रीकरण के वार्तालाप से वायु-मंडल व्याप्त हो रहा है, किंतु युद्ध के नित नये साधन तैयार होते हैं। मुँह में राम, बग़ल में ईंटें, की बात चरितार्थ होती-सी दिखाई पड़ती है। आर्थिक उन्नति के लिये धर्म और न्याय की उपेक्षा की जाती है। जो स्वार्थ व्यक्तियों में संघर्ष का कारण है, वही जातियों में खींचातानी उत्पन्न कर रहा है। यद्यपि मनुष्य-जाति ने नख-दंत आदि स्वाभाविक अस्त्रों को त्याग दिया है, तथापि अब उनसे भयानक और तीव्र अस्त्र तैयार कर लिये हैं। जितना ही ज्ञान बढ़ता जाता है, उतनी ही प्रतिद्वंद्विता में वृद्धि हो रही है। व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता भी गोला बारूद से कम घातक नहीं। बेकारी भी दिन प्रति-दिन-भीषण रूप

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

धारण करती जाती है। बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुकूल आय नहीं है। असंतोष क्रोध और क्रूरता को बढ़ा रहा है। क्रोध की अग्नि जब प्रज्वलित हो जाती है, तब सहज में नहीं बुझती। वायु-मंडल संकुचित और विषाक्त बनता जा रहा है। साँस लेने से दम घुटता-सा मालूम होता है, फिर आशावाद के लिए क्या स्थान है?

आशावादी जो कुछ हो चुका है, उसकी ओर देखता है, जो कुछ नहीं हुआ, उसे देखकर निराश नहीं होता। इतना ही नहीं, मनुष्य की असफलता उसके उद्योग को जारी रखने में सहायक होती है। मानव-जाति की उपर्युक्त समस्याएँ ऐसी नहीं, जो सावधानी से विचार करने पर हल न हो सकें। यद्यपि मनुष्य में स्वार्थ की मात्रा अधिक है, तथापि अनुभव यह बतलाता है कि सच्चा स्वार्थ निःस्वार्थता में है। संकुचित स्वार्थ स्वार्थ का घातक होता है। मनुष्य में जहाँ घृणा के भाव हैं, वहाँ सहानुभूति और सामाजिकता भी है। सत्शिक्षा की आवश्यकता है। अभी तक लोग दूसरों को नीचा समझने में अपनी उच्चता मानते हैं; किन्तु अब, जैसे ज्ञान का विस्तार होता जाता है, एक को दूसरे की योग्यता का परिचय मिलता है। संसार के साहित्यिक एक दूसरे के निकट आते जा रहे हैं। आपके साहित्यिक यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र में नहीं हैं, तथापि अपनी रचनाओं द्वारा दूसरी जातियों में आपका मान बढ़ाकर बड़ा राजनीतिक कार्य कर रहे हैं।

मानव-जाति में वृष्णि वंशियों की भाँति आपस में कट मरने की प्रवृत्ति अवश्य है, किन्तु उसमें आत्मरक्षा की भावना भी बदलती है। सच्ची आत्म-रक्षा दूसरों को दबाकर रखने में नहीं है; क्योंकि दबा हुआ मनुष्य कभी मित्र नहीं बन सकता। मानव-जाति इन सिद्धान्तों को समझती जा रही है। हाँ, इन सिद्धान्तों का प्रचार अभी यथेष्ट रूप से नहीं हुआ, किन्तु यह निराशा की बात नहीं है। विचार क्षेत्र में सिद्धान्त के प्रकट होने में भविष्य के लिए शुभाशा है। ये सिद्धांत केवल जातियों के सुधार के अर्थ ही विचार-क्षेत्र में नहीं आए हैं, वरन् व्यक्तियों के सुधार में भी ये काम में

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

लाए जा रहे हैं। दंड-विधान बदला लेने के लिए नहीं रक्खा गया है, वरन् अभियोगी के सुधार के लिए। दुष्कर्म करने की प्रवृत्ति अब एक मानसिक रोग समझा जाने लगा है, और उसकी चिकित्सा के साधन ढूँढ़े जा रहे हैं। जिस प्रकार व्यक्ति के मनोविज्ञान ने व्यक्तिगत रोगों की चिकित्सा में बड़ी सहायता पहुँचाई है, उसी प्रकार सामूहिक मनोविज्ञान का अध्ययन जातियों और संगठित समूहों के दंभ, घृणा आदि रोगों को कम करने में सहायक होगा। राजनीतिक और अंतर्राष्ट्रीय समस्याएँ यद्यपि बहुत जटिल हैं, तथापि दृष्टिकोण के बदलने से वे सहज में सुलभ हो जायँगी। अभी तक ये समस्याएँ बिलकुल दूकानदारी के सिद्धांतों पर चल रही हैं। व्यापार के भी सिद्धांत बुरे नहीं, किन्तु व्यापार उच्च कोटि का भी होता है, और नीचे दर्जे का भी। जिस प्रकार व्यापारिक व्यापार में सचाई आती जा रही है, उसी प्रकार राजनीतिक व्यापार में भी सचाई स्थान पाती जा रही है। सत्य की सदा जय होती है, किन्तु कभी-कभी जरा देर लग जाती है। अभी व्यापारनीति से चलकर न्याय और धर्म-सम्बन्धिनी उदार नीति की शिक्षा ग्रहण करना है। धर्म-नीति में दो पक्ष नहीं रहते। एक ही पक्ष को दूसरे पक्ष का वास्तविक हित देखने का उत्तरदायित्व लेना पड़ता है। दूसरे पक्ष के वास्तविक हित देखने में अपना स्वार्थ त्यागना पड़ता है। इसके लिये शिक्षा की आवश्यकता है। वह शिक्षा हमें स्वयं देनी चाहिये। स्वयं चरित्रवान् बनकर दूसरों को भी शिक्षा दे सकते हैं। साम्य स्थापित करने के लिये परस्पर आदान-प्रदान अपेक्षित हैं। पहले स्वयं दान करना चाहिये, फिर दूसरों से प्रत्युपकार की आशा रखनी चाहिए। निष्काम कर्म किया जाय, तो सबसे अच्छा हो। सज्जनता कभी निष्फल नहीं जाती।

अन्य समस्याएँ भी परस्पर आदान-प्रदान से हल हो सकती हैं। यद्यपि धर्म में अंध-विश्वास के लिये स्थान नहीं, तथापि धार्मिक भाव के लिये अब भी गुंजाइश है। हम आदर का व्यवहार चाहते हैं, हम उदारता चाहते हैं, हम अपने जीवन में सरसता चाहते हैं, हम अपने में प्रेम और दया की

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

स्निग्धता और आर्द्रता देखने को उत्सुक हैं। यही धार्मिक भाव है। यदि हम अपने ईश्वर को व्यापक रूप में देखना चाहते हैं, तो ईश्वर की संतान से विरोध नहीं कर सकते। यदि दूसरे अज्ञानांधकार में हैं, तो हमें चाहिये कि उन्हें ज्ञान का प्रकाश दिखलावें, न कि अपने अज्ञान से उनका अज्ञान द्विगुणित कर दें। प्राचीन नवीन का भी झगड़ा उदारता की अपेक्षा रखता है। प्राचीनों को यह खयाल करना चाहिये कि संसार परिवर्तन-शील है। समय की गति किसी के रोके नहीं रुकती, किंतु वे लोग उस परिवर्तन को उच्छृंखलता में परिणत होने से रोक सकते हैं। नवीनों को भी इस बात को मानना पड़ेगा कि हमें नवीन इमारत पुरानी नींव पर ही बनाना है। हमें उन्नति अवश्य करनी है, परंतु एक क्रम से। केवल परिवर्तन से कोई अर्थ नहीं सधता, हमें उन्नति चाहिए। उन्नति में क्रम और विकास रहता है। क्रम में पूर्वापर सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होता। हमें चाहिए कि हम अपना जातीय व्यक्तित्व रखते हुए उन्नति करें।

जाति-पाँति की समस्या में हमें पहले समझ लेना चाहिये कि कोई जन्म-मात्र का अधिकार स्वीकार करने को तैयार न होगा। यदि हम दूसरों से आदर चाहते हैं, यदि हम चाहते हैं कि दूसरे हमें पूजें तो हमें अपने गुणों से, अपने प्रेम से और सहानुभूति से दूसरों के हृदय में स्थान प्राप्त करना चाहिये। पतितों को भी चाहिये कि हम जिनकी समता चाहते हैं, उनकी समता के योग्य बनें। दोनों ही ओर योग्यता की आवश्यकता है। बिना योग्यता के अधिकार नहीं मिलता। हाँ, मनुष्य-मात्र के अधिकार सबको प्राप्त हैं। व्यक्ति चाहे योग्य हो, चाहे अयोग्य उसे अपनी नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार है।

स्त्री-पुरुष-समस्या का मूल कारण यह है कि पुरुष स्त्रियों को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन समझते हैं। स्त्रियाँ भी प्रायः ऐसा ही समझने लगी। विवाह अब आध्यात्मिक सहयोग का साधन नहीं रहा। विवाह का आधार इंद्रियों का आकर्षण हो गया है, मन का आकर्षण नहीं। हाँ,

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

तलाक़ और स्वतंत्र प्रेम का कारण है। इसमें भी शिक्षा की आवश्यकता है। दृष्टिकोण को धार्मिक बनाने से सारी समस्याएँ हल हो सकती हैं। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' मानना ही सच्ची धार्मिकता है।

यह आशावाद अकर्मण्यता नहीं है। असंतोष क्रिया का प्रेरक अवश्य होता है, किंतु उसके साथ आशा और विश्वास की आवश्यकता है। यदि हमें मनुष्य-जाति की उच्च संभावनाओं में विश्वास नहीं, तो सारी शिक्षा निष्फल हो जाती है। उद्योग भी हलका पड़ जाता है। जो श्रद्धा और विश्वास धर्म में आवश्यक हैं, वे कार्य क्षेत्र में भी अपेक्षित हैं। मनुष्य जाति की उच्च संभावनाओं में विश्वास रखते हुए अपने कार्य को उत्साह-पूर्वक कर सकते हैं। संसार संघर्षमय अवश्य है, किंतु हम कम-से-कम अपने अंश में संघर्ष को कम कर सकते हैं। हमारी सद्भावनाएँ निष्फल नहीं जायँगी। लगन के आगे कोई प्रतिबंध नहीं ठहरता। हम समाज के जीवित केन्द्र हैं, हम समाज की गति में अंतर ला सकते हैं। हमारे विचार दूसरों को प्रभावित करते हैं। यदि बुरी बातें संक्रामक हैं, तो अच्छी बातें भी संक्रामक हो जगत्-व्यापिनी बन सकती हैं। फिर निराशा क्यों?

———

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

अथातो घुमक्कड़-जिज्ञासा

राहुल सांकृत्यायन

(१८९५)

संस्कृत से ग्रन्थ को शुरू करने के लिए पाठकों को रोष नहीं होना चाहिए। आखिर हम शास्त्र लिखने जा रहे हैं, फिर शास्त्र की परिपाटी को तो मानना ही पड़ेगा। शास्त्रों में जिज्ञासा ऐसी चीज के लिए होनी बतलाई गई है जो कि श्रेष्ठ तथा व्यक्ति और समाज सबके लिए परम हितकारी हो। व्यास ने अपने शास्त्र में ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे जिज्ञासा का विषय बनाया। व्यास-शिष्य जैमिनि ने धर्म को श्रेष्ठ माना। पुराने ऋषियों से मतभेद रखना हमारे लिए पाप की वस्तु नहीं है, आखिर छ शास्त्रों के रचयिता आस्तिक ऋषियों में भी आधों ने ब्रह्म को धत्ता बता दिया है। मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ी से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। कहा जाता है ब्रह्मा ने सृष्टि को पैदा, धारण और नाश करने का जिम्मा अपने ऊपर लिया है। पैदा करना और नाश करना दूर की बातें हैं, उनकी यथार्थता सिद्ध करने के लिए न प्रत्यक्ष प्रमाण सहायक हो सकता है, न अनुमान ही। हाँ, दुनिया के धारण की बात तो निश्चय ही न ब्रह्मा के ऊपर है, न विष्णु के और न शंकर ही के ऊपर। दुनिया—दुःख में हो चाहे सुख में—सभी समय यदि सहारा पाती है, तो घुमक्कड़ों की ही ओर से। प्राकृतिक आदिम मनुष्य परम घुमक्कड़ था। खेती, बागवानी तथा घर द्वार से मुक्त वह आकाश

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

के पक्षियों की भाँति पृथ्वी पर सदा विचरण करता था, जाड़े में यदि इस जगह था तो गर्मियों में वहाँ से दो सौ कोस दूर।

आधुनिक काल से घुमक्कड़ों के काम की बात कहने की आवश्यकता है, क्योंकि लोगों ने घुमक्कड़ों की कृतियों को चुरा के उन्हें गला फाड़-फाड़ अपने नाम से प्रकाशित किया, जिससे दुनियाँ जानने लगी कि वस्तुतः तेली के कोल्हू के बैल ही दुनिया में सब कुछ करते हैं। आधुनिक विज्ञान में चार्लस डारविन का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने प्राणियों की उत्पत्ति और मानव वंश के विकास पर ही अद्वितीय खोज नहीं की, बल्कि सारे ही विज्ञानों को उससे सहायता मिली। कहना चाहिए कि सभी विज्ञानों को डारविन के प्रकाश में दिशा बदलनी पड़ी। लेकिन क्या डारविन अपने महान् आविष्कारों को कर सकता था, यदि उसने घुमक्कड़ी-व्रत नहीं लिया होता ?

मैं जानता हूँ, पुस्तकें भी कुछ-कुछ घुमक्कड़ी का रस प्रदान करती हैं, लेकिन जिस तरह फोटो देखकर आप हिमालय के देवदार के गहन वनों और श्वेत हिम मुकुटित शिखरों के सौन्दर्य, उनके रूप, उनके गन्ध का अनुभव नहीं कर सकते, उसी तरह यात्रा-कथाओं से आपको उस बूँद से भेंट नहीं हो सकती, जो कि एक घुमक्कड़ को प्राप्त होती है। अधिक से अधिक यात्रा-पाठकों के लिए यही कहा जा सकता है, कि दूसरे ग्रन्थों की अपेक्षा उन्हें थोड़ा आलोक मिल जाता है और साथ ही ऐसी प्रेरणा भी मिल सकती है, जो स्थायी नहीं तो कुछ दिनों के लिए उन्हें घुमक्कड़ बना सकती हैं। घुमक्कड़ क्यों दुनिया की सर्वश्रेष्ठ विभूति है। इसीलिए कि उसने आज की दुनिया को बनाया है। यदि आदिम पुरुष एक जगह नदी या तालाब के किनारे गर्म मुल्क में पड़े रहते तो वह दुनिया को आगे नहीं ले जा सकते थे। आदमी की घुमक्कड़ी ने बहुत बार खून की नदियाँ बहाई हैं, इसमें सन्देह नहीं, और घुमक्कड़ों से हम नहीं चाहेंगे कि वह खून के रास्ते को पकड़ें, किन्तु अगर घुमक्कड़ों के काफिले न आते-जाते, तो सुस्त मानव

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

जातियाँ सो जातीं, और पशु से ऊपर नहीं उठ पातीं। आदिम घुमक्कड़ों में से आर्यों, शकों, हूणों ने क्या-क्या किया, अपने खूनी पथों द्वारा मानवता के पथ को किस तरह प्रशस्त किया, इसे इतिहास में हम उतना स्पष्ट वर्णित नहीं पाते, किन्तु मंगोल-घुमक्कड़ों की करामातों को तो हम अच्छी तरह जानते हैं। बारूद, तोप, कागज, छापाखाना, दिग्दर्शक, चश्मा यही चीजें थीं, जिन्होंने पच्छिम में विज्ञान-युग का आरम्भ कराया, और इन चीजों को वहाँ ले जानेवाले मंगोल घुमक्कड़ थे।

कोलम्बस और वास्को द-गामा दो घुमक्कड़ ही थे, जिन्होंने पश्चिमी देशों के आगे बढ़ने का रास्ता खोला। अमेरिका अधिकतर निर्जन-सा पड़ा था। एशिया के कूप-मण्डूकों को घुमक्कड़-धर्म की महिमा भूल गई, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर अपनी झण्डी नहीं गाड़ी। दो शताब्दियों पहले तक आस्ट्रेलिया खाली पड़ा था। चीन और भारत को सभ्यता का बड़ा गर्व है, लेकिन इनको इतनी अकल नहीं आई, कि जाकर वहाँ अपना झण्डा गाड़ आते। आज अपने ४०-५० करोड़ की जनसंख्या के भार से भारत और चीन की भूमि दबी जा रही है, और आस्ट्रेलिया में एक करोड़ भी आदमी नहीं हैं। आज एशियायियों के लिए आस्ट्रेलिया का द्वार बन्द है, लेकिन दो सदी पहले वह हमारे हाथ की चीज थी। क्यों भारत और चीन आस्ट्रेलिया की अपार संपत्ति और अमित भूमि से वंचित रह गए? इसीलिए कि वह घुमक्कड़-धर्म से विमुख थे, उसे भूल चुके थे।

हाँ, मैं इसे भूलना ही कहूँगा, क्योंकि किसी समय भारत और चीन ने बड़े-बड़े नामी घुमक्कड़ पैदा किए। वे भारतीय घुमक्कड़ ही थे, जिन्होंने दक्षिण पूरब में लंका, बर्मा, मलाया, यवद्वीप, स्याम, कम्बोज, चम्पा, बोर्नियो और सेलीबीज ही नहीं, फिलिपाइन तक का धावा मारा था, और एक समय तो जान पड़ा कि न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया भी बृहत्तर भारत का अंग बनाने वाले हैं; लेकिन कूप मंडूकता तेरा सत्यनाश हो! इस देश

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

के बुद्धुओं ने उपदेश करना शुरू किया, कि समुन्दर के खारे पानी और हिंदू धर्म में बड़ा वैर है, उसके छूनेमात्र से वह नमक की पुतली की तरह गल जायगा। इतना बतला देने पर क्या कहने की आवश्यकता है कि समाज के कल्याण के लिए घुमक्कड़-धर्म कितनी आवश्यक चीज है? जिस जाति या देश ने इस धर्म को अपनाया, वह चारों फलों का भागी हुआ, और जिसने इसे दुराया, उसके लिए नरक में भी ठिकाना नहीं। आखिर घुमक्कड़ धर्म को भूलने के कारण ही हम सात शताब्दियों तक धक्का खाते रहे, ऐरे-गैरे जो भी आये, हमें चार लात लगाते गये।

शायद किसी को संदेह हो कि मैंने इस शास्त्र में जो युक्तियाँ दी हैं, वह सभी लौकिक तथा शास्त्र-बाह्य हैं। अच्छा तो धर्म से प्रमाण लीजिए। दुनिया के अधिकांश धर्मनायक घुमक्कड़ रहे। धर्माचार्यों में आचार-विचार और तर्क तथा सहृदयता में सर्वश्रेष्ठ बुद्ध घुमक्कड़-राज थे। यद्यपि वह भारत से बाहर नहीं गये, लेकिन वर्षा के तीन मासों को छोड़कर एक जगह रहना वह पाप समझते थे। वह अपने ही घुमक्कड़ नहीं थे, बल्कि आरंभ ही में अपने शिष्यों को उन्होंने कहा था—"चरथ भिक्खवे! चारिकं" जिसका अर्थ है—भिक्षुओं! घुमक्कड़ी करो। बुद्ध के भिक्षुओं ने अपने गुरु की शिक्षा को कितना माना, क्या इसे बताने की आवश्यकता है? क्या उन्होंने पश्चिम में मकदूनिया तथा मिश्र से पूरब में जापान तक, उत्तर में मंगोलिया से लेकर दक्षिण में बाली और बांका के द्वीपों तक को रौंदकर रख नहीं दिया? जिस वृहत्तर-भारत के लिए हरेक भारतीय को उचित अभिमान है, क्या उसका निर्माण इन्हीं घुमक्कड़ों की चरण-धूलि ने नहीं किया? केवल बुद्ध ने ही अपनी घुमक्कड़ी से प्रेरणा नहीं दी, बल्कि घुमक्कड़ों का इतना जोर बुद्ध से एक दो शताब्दियों पूर्व भी था, जिसके ही कारण बुद्ध जैसे घुमक्कड़-राज इस देश में पैदा हो सके। उस वक्त पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ तक जम्बू-वृक्ष की शाखा ले अपनी प्रखर प्रतिभा का जौहर दिखातीं; बाद में कूपमण्डूकों को पराजित करतीं सारे

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

भारत में मुक्त होकर विचरा करती थीं।

कोई-कोई महिलाएँ पूछती हैं—क्या स्त्रियाँ भी घुमक्कड़ी कर सकती हैं, क्या उनको भी इस महाव्रत की दीक्षा लेनी चाहिए? इसके बारे में तो अलग अध्याय ही लिखा जाने वाला है, किन्तु यहाँ इतना कह देना है, कि घुमक्कड़-धर्म ब्राह्मण-धर्म जैसा संकुचित धर्म नहीं है, जिसमें स्त्रियों के लिए स्थान नहीं हो। स्त्रियाँ इसमें उतना ही अधिकार रखती हैं, जितना पुरुष। यदि वह जन्म सफल करके व्यक्ति और समाज के लिए कुछ करना चाहती हैं, तो उन्हें भी दोनों हाथों इस धर्म को स्वीकार करना चाहिए। घुमक्कड़ी-धर्म छुड़ाने के लिए ही पुरुष ने बहुत से बंधन नारी के रास्ते में लगाये हैं। बुद्ध ने सिर्फ पुरुषों के लिए घुमक्कड़ी करने का आदेश नहीं दिया, बल्कि स्त्रियों के लिये भी उनका वही उपदेश था।

भारत के प्राचीन धर्मों में जैन धर्म भी है। जैन धर्म के प्रतिष्ठापक श्रमण महावीर कौन थे? वह भी घुमक्कड़-राजा थे। घुमक्कड़-धर्म के आचरण में छोटी-से-बड़ी तक सभी बाधाओं और उपाधियों को उन्होंने त्याग दिया था—घर द्वार और नारी-संतान ही नहीं, वस्त्र का भी वर्जन कर दिया था। "करतलभिक्षा, तरुतल वास" तथा दिग-अम्बर को उन्होंने इसीलिये अपनाया था, कि निर्द्वन्द्व विचरण में कोई बाधा न रहे। श्वेताम्बर-बन्धु दिगम्बर कहने के लिये नाराज न हों। वस्तुतः हमारे वैशालिक महान् घुमक्कड़ कुछ बातों में दिगम्बरों की कल्पना के अनुसार थे और कुछ बातों में श्वेताम्बरों के उल्लेख के अनुसार। लेकिन इसमें तो दोनों संप्रदाय और बाहर के मर्मज्ञ भी सहमत हैं, कि भगवान् महावीर दूसरी तीसरी नहीं प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ थे। वह आजीवन घूमते ही रहे। वैशाली में जन्म लेकर विचरण करते ही पावा में उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। बुद्ध और महावीर से बढ़कर यदि कोई त्याग, तपस्या और सहृदयता का दावा करता है, तो मैं उसे केवल दम्भी कहूँगा। आज-कल कुटिया या आश्रम बनाकर तैली के बैल की तरह कोल्हू से बँधे कितने ही लोग

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

अपने को अद्वितीय महात्मा कहते हैं या चेलों से कहलवाते हैं; लेकिन मैं तो कहूँगा घुमक्कड़ी को त्यागकर यदि महापुरुष बना जाता, तो फिर ऐसे लोग गली-गली में देखे जाते। मैं तो जिज्ञासुओं को खबरदार कर देना चाहता हूँ, कि वह ऐसे मुलम्मेवाले महात्माओं और महापुरुषों के फेर से बचे रहें। वे स्वयं तेली के बैल तो हैं ही, दूसरों को भी अपने ही जैसा बना रखेंगे।

बुद्ध और महावीर जैसे सृष्टिकर्त्ता ईश्वर से इनकारी महापुरुषों की घुमक्कड़ी की बात से यह नहीं मान लेना होगा, कि दूसरे लोग ईश्वर के भरोसे गुफा या कोठरी में बैठकर सारी सिद्धियाँ पा गए या पा जाते हैं। यदि ऐसा होता, तो शंकराचार्य, जो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप थे, क्यों भारत के चारों कोनों की खाक छानते फिरे ! शंकर को शंकर किसी ब्रह्म ने नहीं बनाया, उन्हें बड़ा बनाने वाला था यही घुमक्कड़ी-धर्म। शंकर बराबर घूमते रहे—आज केरल देश में थे तो कुछ ही महीने बाद मिथिला में, और अगले साल काश्मीर या हिमालय के किसी दूसरे भाग में। शंकर तरुणाई में ही शिवलोक सिधार गए, किंतु थोड़े से जीवन में उन्होंने सिर्फ तीन भाष्य ही नहीं लिखे; बल्कि अपने आचरण से अनुयायियों को वह घुमक्कड़ी का पाठ पढ़ा गए, कि आज भी उसके पालन करनेवाले सैकड़ों मिलते हैं। वास्को डी-गामा के भारत पहुँचने से बहुत पहिले शंकर के शिष्य मास्को और योरप तक पहुँचे थे। उनके साहसी शिष्य सिर्फ भारत के चार धामों से ही सन्तुष्ट नहीं थे, बल्कि उनमें से कितनों ने जाकर बाकू (रूस) में धूनी रमाई। एक ने पर्यटन करते हुए बोल्गा तट पर निज्नीनोवोग्राद के महामेले को देखा। फिर क्या था, कुछ समय के लिए वहीं डट गया और उसने ईसाइयों के भीतर कितने ही अनुयायी पैदा कर लिए, जिनकी संख्या भीतर-ही-भीतर बढ़ती हुई इस शताब्दी के आरम्भ में कुछ लाख तक पहुँच गई थी।

रामानुज, मध्वाचार्य और दूसरे वैष्णवाचार्यों के अनुयायी मुझे क्षमा करें; यदि मैं कहूँ कि उन्होंने भारत में कूप-मंडूकता के प्रचार में बड़ी

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

सरगर्मी दिखाई। भला हो, रामानन्द और चैतन्य का जिन्होंने कि पंक से पंकज बनकर आदि काल से चले आते महान् घुमक्कड़ धर्म की फिर से प्रतिष्ठापना की जिसके फलस्वरूप प्रथम श्रेणी के तो नहीं किन्तु द्वितीय श्रेणी के बहुत से घुमक्कड़ पैदा हुए। ये बेचारे बाकू की बड़ी ज्वालामाई तक कैसे जाते, उनके लिए तो मानसरोवर तक पहुँचना भी मुश्किल था। अपने हाथ से खाना बनाना, मांस-अण्डे से छू जाने पर भी धर्म का चला जाना, हाड़-तोड़ सर्दी के कारण हर लघुशंका के बाद बर्फीले पानी से हाथ धोना और हर महाशंका के बाद स्नान करना तो यमराज को निमन्त्रण देना होता, इसीलिए बेचारे फूँक फूँक कर ही घुमक्कड़ी कर सकते थे। इसमें किसे उज्र हो सकता है, कि शैव हो या वैष्णव; वेदान्ती हो या सदान्ती, सभी को आगे बढ़ाया केवल घुमक्कड़ धर्म ने।

महान् घुमक्कड़-धर्म, बौद्ध धर्म का भारत से लुप्त होना क्या था, तब से कूप-मंडूकता का हमारे देश में बोलबाला हो गया। सात शताब्दियाँ बीत गईं, और इन सातों शताब्दियों में दासता और परतन्त्रता हमारे देश में पैर तोड़कर बैठ गई, यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी। लेकिन समाज के अगुओं ने चाहे कितना ही कूप-मंडूक बनाना चाहा, लेकिन इस देश में माई-के-लाल जब-तब पैदा होते रहे, जिन्होंने कर्म-पथ की ओर संकेत किया। हमारे इतिहास में गुरु नानक का समय दूर का नहीं है, लेकिन अपने समय के वह महान् घुमक्कड़ थे। उन्होंने भारत-भ्रमण को ही पर्याप्त नहीं समझा और ईरान और अरब तक का धावा मारा। घुमक्कड़ी किसी बड़े योग में कम सिद्धिदायिनी नहीं है, और निर्भीक तो वह एक नम्बर का बना देती है। घुमक्कड़ नामक मक्के में जाके काबा की ओर पैर फैलाकर सो गए, मुल्लों में इतनी सहिष्णुता होती तो आदमी होते। उन्होंने एतराज किया और पैर पकड़ के दूसरी ओर करना चाहा। उनको यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि जिस तरफ घुमक्कड़ नानक का पैर घूम रहा है, काबा भी उसी ओर चला जा रहा है। यह है चमत्कार! आज के

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

सर्वशक्तिमान, किन्तु कोठरी में बन्द महात्माओं में है कोई ऐसा, जो नानक की तरह हिम्मत और चमत्कार दिखलाए ?

दूर शताब्दियों की बात छोड़िए, अभी शताब्दी भी नहीं बीती, इस देश से स्वामी दयानन्द को विदा हुए। स्वामी दयानन्द को ऋषि दयानन्द किसने बनाया ? घुमक्कड़ी धर्म ने। उन्होंने भारत के अधिक भागों का भ्रमण किया; पुस्तक लिखते, शास्त्रार्थ करते वह बराबर भ्रमण करते रहे। शास्त्रों को पढ़कर काशी के बड़े-बड़े पंडित महा-महा मंडूक बनने में ही सफल होते रहे, इसलिए दयानन्द को मुक्त-बुद्धि और तर्क-प्रधान बनने का कारण शास्त्रों से अलग कहीं ढूँढ़ना होगा। और वह उनका निरन्तर घुमक्कड़ी धर्म का सेवन उन्होंने समुद्र यात्रा करने, द्वीप-द्वीपांतरों में जाने के विरुद्ध जितनी थोथी दलीलें दी जाती थीं, सबको चिद्दी-चिद्दी उड़ा दिया और बतलाया कि मनुष्य स्थावर वृक्ष नहीं है, वह जंगम प्राणी है। चलना मनुष्य का धर्म है, जिसने इसे छोड़ा वह मनुष्य होने का अधिकारी नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के भारतीय घुमक्कड़ों की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। इतना लिखने से मालूम हो गया होगा कि संसार में यदि कोई अनादि सनातन धर्म है, तो वह घुमक्कड़ धर्म है। लेकिन वह संकुचित सम्प्रदाय नहीं है, वह आकाश की तरह महान् है, समुद्र की तरह विशाल है। जिन धर्मों ने अधिक यश और महिमा प्राप्त की है, वह केवल घुमक्कड़ थे, उनके अनुयायी भी ऐसे घुमक्कड़ थे जिन्होंने ईसा के संदेश को दुनिया के कोने-कोने में पहुँचाया। यहूदी पैगम्बरों ने घुमक्कड़ी धर्म को भुला दिया, जिसका फल शताब्दियों तक उन्हें भोगना पड़ा। उन्होंने अपने जान चूल्हे से सिर निकालना नहीं चाहा। घुमक्कड़ धर्म की ऐसी भारी अवहेलना करने वाले की जैसी गति होनी चाहिए वैसी ही गति उनकी हुई। चूल्हा हाथ से छूट गया और सारी दुनिया में घुमक्कड़ी करने को मजबूर हुए, जिसने आगे उन्हें मारवाड़ी सेठ बनाया; या यों कहिये की घुमक्कड़ी

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

धर्म की एक छींट पड़ जाने से मारवाड़ी सेठ भारत के यहूदी बन गए। जिसने इस धर्म की अवहेलना की, उसे रक्त के आँसू बहाने पड़े। अभी इन बेचारों ने बड़ी कुर्बानी के बाद और दो हजार वर्ष की घुमक्कड़ी के तजर्बे के बल पर फिर अपना स्थान प्राप्त किया। आशा है स्थान प्राप्त करने से वह चूल्हे में सिर रखकर बैठने वाले नहीं बनेंगे। अस्तु। सनातन-धर्म से पतित यहूदी जाति को महान् पाप प्रायश्चित या घुमक्कड़ी के रूप में भोगना पड़ा, और अब उन्हें पैर रखने का स्थान मिला। आज भारत तना हुआ है। वह यहूदियों को भूमि और राज्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। जब बड़े-बड़े स्वीकार कर चुके हैं, तो कितने दिनों तक यह हठधर्मी चलेगी? लेकिन विषयान्तर में न जाकर हमें यह कहना था कि वह घुमक्कड़ी धर्म है, जिसने यहूदियों को केवल व्यापार-कुशल उद्योग-निष्णात ही नहीं बनाया, बल्कि विज्ञान, दर्शन, साहित्य, संगीत सभी क्षेत्रों में चमकाने का मौका दिया। समझा जाता था कि व्यापारी तथा घुमक्कड़ यहूदी युद्ध विद्या में कच्चे निकलेंगे; लेकिन उन्होंने पाँच पाँच अरबी साम्राज्यों की सारी शेखी को धूल में मिलाकर चारों खाने चित्त कर दिया और सबने नाक रगड़कर उनसे शांति की भिक्षा मांगी।

इतना कहने से अब कोई संदेह नहीं रह गया कि घुमक्कड़ धर्म से बढ़कर दुनिया में धर्म नहीं है। धर्म भी छोटी बात है, उसे घुमक्कड़ के साथ लगाना "महिमा घटी समुद्र की, रावण बसा पड़ोस" वाली बात होगी। घुमक्कड़ होना आदमी के लिए परम सौभाग्य की बात है। यह पन्थ अपने अनुयायी को मरने के बाद किसी काल्पनिक स्वर्ग का प्रलोभन नहीं देता, इसके लिए तो कह सकते हैं—"क्या खूब सौदा नक़द है, इस हाथ से ले इस हाथ दे।" घुमक्कड़ी वही कर सकता है, जो निश्चित है। किन साधनों से सम्पन्न होकर आदमी घुमक्कड़ बनने का अधिकारी हो सकता है, यह आगे बतलाया जायगा, किंतु घुमक्कड़ी के लिए चिंताहीन होना आवश्यक है और चिंताहीन होने के लिए घुमक्कड़ी भी आवश्यक

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

है। दोनों का अन्योन्याश्रय होना दूषण नहीं भूषण है। घुमक्कड़ी से बढ़कर सुख कहाँ मिल सकता है? आखिर चिंता-हीनता तो सुख का स्पष्ट रूप है। घुमक्कड़ी में कष्ट भी होते हैं, लेकिन उसे उसी तरह समझिए, जैसे भोजन में मिर्च। मिर्च में यदि कड़वाहट न हो, तो क्या कोई मिर्च-प्रेमी उसमें हाथ भी लगायेगा? वस्तुतः घुमक्कड़ी से कभी-कभी होने वाले कड़वे अनुभव उसके रस को और बढ़ा देते हैं, उसी तरह जैसे काली पृष्ठभूमि में चित्र अधिक खिल उठता है।

व्यक्ति के लिए घुमक्कड़ी से बढ़कर कोई नकद धर्म नहीं है। जाति का भविष्य घुमक्कड़ी पर निर्भर करता है, इसीलिए मैं कहूँगा कि हरेक तरुण और तरुणी को घुमक्कड़ व्रत ग्रहण करना चाहिए, इसके विरुद्ध दिये जाने वाले सारे प्रमाणों को झूठ और व्यर्थ का समझना चाहिए। यदि माता-पिता विरोध करते हैं, समझना चाहिए कि वह भी प्रह्लाद के माता-पिता के नवीन संस्करण हैं। यदि हितबान्धव बाधा उपस्थित करते हैं, तो समझना चाहिए कि वे दिवांध हैं। यदि धर्म-धर्माचार्य कुछ उलटा-सीधा तर्क देते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि इन्हीं ढोंगों और ढोंगियों ने संसार को सरल और सच्चे पथ पर चलने न दिया। यदि राज्य और राजसी नेता अपनी कानूनी रुकावटें डालते हैं, तो हजारों बार की तजर्बा की हुई बात है कि महानदी के वेग की तरह घुमक्कड़ की गति को रोकने वाला दुनिया में कोई पैदा नहीं हुआ। बड़े-बड़े कठोर पहरेवाली राज्य-सीमाओं को घुमक्कड़ों ने आँख में धूल झोंककर पार कर लिया। मैंने स्वयं ऐसा एक से अधिक बार किया है। (पहली तिब्बत यात्रा में अँगरेजों, नेपाल-राज्य और तिब्बत के सीमा-रक्षकों की आँख में धूल झोंककर जाना पड़ा था।)

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं, यदि कोई तरुण-तरुणी घुमक्कड़ी धर्म दीक्षा लेता है—यह मैं अवश्य कहूँगा, कि यह दीक्षा वही ले सकता है, जिसमें बहुत भारी मात्रा में हर तरह का साहस है—तो उसे किसी की

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

बात नहीं सुननी चाहिए, न माता के आँसू बहने की परवाह करनी चाहिए, न पिता के भय और उदास होने की, न भूल से विवाह लाई अपनी पत्नी के रोने-धोने की फिक्र करनी चाहिए और न किसी तरुणी को अभागे पति के कलपने की। बस शंकराचार्य के शब्दों में यही समझना चाहिए—"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः" और मेरे गुरु कपोतराज के वचन को अपना पथप्रदर्शक बनाना चाहिए—

"सैर कर दुनिया की गाफिल, जिन्दगानी फिर कहाँ ?
जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?"

दुनिया में मानुष-जन्म एक ही बार होता है और जवानी भी केवल एक ही बार आती है। साहसी, मनस्वी तरुण-तरुणियों को इस अवसर से हाथ नहीं धोना चाहिए। कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ो ! संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।

———

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

चक्करदार चोरी

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

(१८६५)

उस दिन बड़ी गर्मी थी। कितने वर्ष पहले की बात लिख रहा हूँ; फिर भी मुझे यह अच्छी तरह याद है कि उस दिन गर्मी थी। ग्रीष्म ऋतु के आरम्भ में गर्मी होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। तो भी मैं अन्य दिनों को छोड़कर आज उसी एक दिन की बात लिख रहा हूँ, क्योंकि उस दिन असिता ने···।

पर कहानी आरम्भ करने से पहले मुझे प्रस्तावना के रूप में बहुत कुछ कहना है। बात यह है कि यह बिलकुल कहानी ही नहीं है। इसे यदि मैं चाहूँ, तो अपने जीवन की एक सच्ची घटना कह सकता हूँ; पर इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें जो बातें हैं, वे सब सच हैं। सच पूछा जाय, तो न यहाँ कभी चक्करदार चोरी हुई और न यहाँ किसी बालिका ने मुझे अपने साथ लेकर उस चोरी का पता ही लगाया। फिर भी इस घटना को मैं अपने जीवन की एक घटना समझता हूँ, क्योंकि बाह्य जगत् की घटना होने पर भी वह मेरे अन्तर्जगत् की घटना है। संसार में जो घटनाएँ घटती हैं, वे ही एकमात्र सत्य नहीं हैं। मेरे लिये तो संसार की कोई घटना तभी सत्य होगी, जब उसका प्रभाव मेरे जीवन पर पड़ेगा। यदि यह बात नहीं है, तो कैसी भी असाधारण घटना क्यों न हो, मेरे लिये उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। उसी की सत्यता के लिये मैं व्यग्र नहीं हूँगा। पर जो मेरे मन की बात है, उसे यदि मैं कहूँ, तो फिर सच किसे कहूँगा?

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

मैं अब ५२ साल का हो गया हूँ। भिन्न-भिन्न स्थानों में भटक फिर कर, भिन्न-भिन्न लोगों के साथ रहकर, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों को अतिक्रमण कर मैं अब अपने गाँव में मास्टर हो गया हूँ। स्कूल में मास्टर होने के कारण अब मुझे केवल बालकों और बालिकाओं के बीच ही रहना पड़ता है। यहाँ आकर मैं एक ऐसी स्थिति का अनुभव करने लगा हूँ, मानो अब मेरे जीवन की गति ही अवरुद्ध हो गई है, मानो अब मुझे जीवन-पथ में अग्रसर ही नहीं होना है। स्कूल-मास्टर के जीवन में एक तो वैसे ही शान्ति रहती है, फिर खैरागढ़ की एक ऐसी जगह है, जहाँ जीवन-संग्राम विकट नहीं है। सुख-दुःख, यश-अपयश, हानि-लाभ सभी को हम लोग यहाँ चुपचाप सह लेते हैं। यहाँ न तो भावों की प्रचण्डता है और न कर्मशक्ति की क्षिप्रता। जो विज्ञ लोग नगर के प्रचण्ड प्रवाह में पड़कर कर्मों के भीषण आवर्त्त और वेग का अनुभव कर चुके हैं; उन्हें इस ग्राम्य जीवन की मन्द गति से बड़ा आश्चर्य और खेद होता है। यह अवसाद, यह नीरवता, यह सन्तोषयुक्त शान्ति उन्हें उद्विग्न कर देती है; पर मुझे इसी जीवन में एक आन्तरिक तृप्ति होती है। यह सच है कि छात्रों में भी कितने ही कितने उद्दण्ड होते हैं, कितने ही उच्छृङ्खल होते हैं और कितने ही उत्पात करते हैं। उनके कारण मैं भी कभी क्षुब्ध होता हूँ, कभी क्रुद्ध होता हूँ और कभी उनकी भर्त्सना करता हूँ। पर यह अवस्था क्षणिक होती है। विद्या के इस व्यवसाय में मानसिक अशान्ति और उद्वेग के लिये स्थायी स्थान नहीं है। जहाँ बुरे लड़के होते हैं, वहाँ अच्छे लड़के भी तो होते हैं। यहीं मैंने विजय, बदरी, सूरज, गुलाब, कुसुम आदि को पढ़ाया है और आजकल अनूप, कृष्ण, नमिता, असिता और इन्दु को भी पढ़ा रहा हूँ। स्कूल का जीवन सदैव उल्लासमय ही रहता है। संसार की बड़ी-बड़ी घटनाएँ अन्य स्थानों को भले ही विक्षुब्ध कर दें; पर यहाँ तो उनसे जीवन में भाव की मृदु तरंगें ही उत्पन्न होती हैं। यहाँ महायुद्ध आतंक के स्थान में उत्साह और सेवा-भाव ही जाग्रत करता है, दुर्भिक्ष का

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

प्रकोप, दया और सहानुभूति ही उत्पन्न करता है। यहाँ जीवन का उत्ताप नहीं रहता, नैराश्य की वेदना नहीं रहती। यहाँ तरुणावस्था की उदारता, दृढ़ता और स्फूर्ति रहती है। यहाँ सांसारिकता से विरक्ति होती है और छद्म से घृणा। आशा के स्वप्न, उमंग के अधैर्य और भावों के वैपरीत्य के कारण छात्रों का संसार सदैव कौतुकावह होता है। छात्रों में मानसिक विकास के साथ भावों का जो परिवर्त्तन होता है, वह ही कम विलक्षण नहीं होता। जीवन की चंचल गति मैं इन छात्रों में ही तो देखता हूँ। तभी तो स्कूल में जीवन चिर-नवीन बना रहता है। एक आता है दूसरा जाता है। कुसुम का स्थान इन्दु ने ले लिया और अब इन्दु का स्थान लीला लेगी; पर यहाँ छात्र-जीवन वही रहेगा। इसी से बाल्यावस्था से अत्यन्त दूर हट जाने पर भी मैं यहाँ बाल्यकाल का अनुभव करता हूँ, और यही सोचा करता हूँ कि यदि मैं भी फिर बालक हो जाता तो कितना अच्छा होता! तब देखता कि नमिता मुझे संस्कृत में किस तरह पछाड़ती और बदरी किस तरह मुझे हिन्दी में गिराता।

जो बात यथार्थ जगत् में सम्भव नहीं है वह बात कल्पना-जगत् में बिल्कुल सम्भव है। इसलिए मैंने अपने लिए एक कल्पना जगत् का निर्माण कर लिया है। उसमें मैं मोहन बनकर असिता का अनुचर हो गया हूँ। बाल्यकाल में मेरी जो भावनाएँ थीं, उन सभी को मोहन में प्रकट कर मैंने उसमें अपना अस्तित्व लीन कर दिया है। यह सच है कि मेरे बाल्यकाल में न कोई असिता हुई और न कोई प्रभा, पर एक बार मोहन बन जाने पर इनकी सृष्टि में जरा भी प्रयास न करना पड़ा। यह सब मैंने किया, इसका कारण यह है कि मैं उपन्यासों का एक प्रेमी पाठक रहा हूँ। अभी तक मैंने कितने ही उपन्यास पढ़े हैं। जो उपन्यास मुझे अच्छे लगे, उनके पात्रों को मैंने अपना सहचर ही बना लिया। कथा का यथार्थ रस इसी में है कि हम उपन्यास के जगत् में उपन्यास के पात्रों के साथ स्वयं यात्रा करते हैं। हिन्दी के आधुनिक साहित्य में अब कितने ही कलाकार

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

हो रहे हैं। उन्होंने बड़े-बड़े कल्पनापूर्ण उपन्यास लिखे हैं। बड़े-बड़े कला-विशारदों ने उन पर बड़ी-बड़ी विद्वत्तापूर्ण समालोचनाएँ भी लिखी हैं। उनमें कला का चाहे जितना चमत्कार हो पर मुझको उनके जगत् से विरक्ति हो गई है। मैं उनके साथ उसमें प्रविष्ट नहीं हो सका हूँ। इसीसे कथा का यथार्थ रस मुझे तो उन कला-विशारदों की कृतियों में नहीं मिला है। वाजपेयी जी मुझे चाहे मध्यम श्रेणी का पाठक मानें, या अधम श्रेणी का; पर यह बात सच है कि 'कंकाल' में मैंने भी कथा का रस नहीं पाया। वाजपेयीजी के कथन से यह प्रतीत होता है कि ऐसे उपन्यासों के लिए पाठकों की एक विशेष मानसिक स्थिति होनी चाहिए। मैं तो यह समझता हूँ कि भिन्न-भिन्न उपन्यासों के लिए भिन्न-भिन्न मानसिक स्थितियाँ होनी चाहिए। एक विशेष मानसिक स्थिति न रहने से न तो 'अलिफ-लैला' का रसोपभोग किया जा सकता है, न 'एलिस इन वंडरलैंड' और 'वाटर बेब्रीज़' आदि का यथार्थ रस लिया जा सकता है, और न 'कथा-सरित्सागर' और 'कादम्बरी' से ही आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। पो और कोनन डायल की कहानियों के लिए भी एक विशेष रुचि चाहिए। यही नहीं, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न उपन्यास विशेष रुचिकर होते हैं। पर यह भी ठीक है कि जो कथा का प्रेमी है, वह सभी स्थितियों और अवस्थाओं में अपने को रखकर कथा-रस का आस्वादन कर लेता है। उसे कष्ट तभी होता है, जब कथा कथा का पथ छोड़कर समाज-शास्त्र विज्ञान या इतिहास का स्थान ग्रहण कर लेती है।

कुछ समय से विज्ञों की यह प्रवृत्ति हो गई है कि वे उपन्यास को मनोविज्ञान की तरह पढ़ने लगे हैं। मनोविज्ञान के तथ्यों के लिए उनका इतना अधिक आग्रह हो गया है कि वे उन्हीं में कला की सार्थकता समझते हैं। प्रसादजी की कृतियों की जो आलोचनाएँ मैंने पढ़ी हैं, उनमें ज्ञान की इतनी गुरुता है कि मैं उसके भार से दब जाता हूँ। प्रसादजी की रचनाएँ मैंने भी पढ़ी हैं। पर पहले मैं उन कथाओं और रचनाओं को निःशंक

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

और निर्भय होकर पढ़ जाता था। अब यह बात नहीं है। अब तो उन्हें पढ़ने का साहस ही नहीं होता। मुझे अब पग-पग पर सन्देह होता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि शेक्सपियर के नाटकों की तरह प्रसादजी की रचनाएँ भी प्रसादजी को पीछे हटाकर बहुत आगे बढ़ गई हैं। अन्य कलाकारों के सम्बन्ध में भी ऐसे ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पढ़कर मैं तो विस्मय-मुग्ध हो जाता हूँ। स्वयं कहानी का लेखक हूँ नहीं; काम चलाने के लिये अँगरेज़ी कहानियों के भाव लेकर मैंने अपने समय में दस-पाँच कहानियाँ अवश्य लिख डाली हैं। इसीलिये मैं यह तो नहीं कह सकता कि कथालेखक अपनी कथा में मनोविज्ञान का विश्लेषण करते हैं, या अपने मन की बातें लिखते हैं; पर इसमें सन्देह नहीं कि आजकल भावों की जटिलता में पड़कर कितने ही कलाकार अपने यथार्थ उद्देश्य को भूल जाते हैं। अहंवृत्ति किसमें नहीं है ? कौन अपनी दृष्टि से संसार को नहीं देखता ? किसे अपने मनोभावों की शुचिता और अन्य के मनोभावों के कालुष्य पर सन्देह होता है ? पर मनुष्यों की इस अहंवृत्ति में सत्य का सच्चा स्वरूप कहाँ है, यही देखना हमारा ध्येय होना चाहिये। विकृत अथवा विक्षिप्त मानसिक अवस्था का वर्णन ही यदि कथाकार का उद्देश्य है, तो बात दूसरी है। पर इसमें सन्देह नहीं कि अब आलोचकों की-सी विशुद्ध दृष्टि न रखकर उपन्यास का रसोपभोग करना अवश्य कठिन है।

अपने समान उपन्यास-प्रेमी के लिये मैं जिस गुण को अनिवार्य समझता हूँ, वह है उसकी कल्पनाशीलता। उपन्यास-लेखकों की कल्पना में उनकी सृजन-शक्ति रहती है। पाठकों की कल्पना में उसे ग्रहण करने की शक्ति चाहिये। लेखक एक के बाद एक कल्पित चित्र उपस्थित करता है और पाठक उन्हें अपनी कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष देखता जाता है। उसे कौतूहल होता है, विस्मय होता है, और वह उसी में लीन हो जाता है। चित्रों की समाप्ति पर भी उसका मोह भंग नहीं होता। वह लेखक के कल्पित संसार से इतना परिचित हो जाता है, मानो उसने सचमुच उस जगत् की यात्रा

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

कर ली हो। जो लेखक मेरे हृदय में कल्पना का यह मोह-जगत् निर्मित नहीं कर सकते उनमें, मेरी समझ के अनुसार, कथा की कला नहीं है, अन्य चाहे जो गुण हों। इसी प्रेमचन्दजी की कहानियों में मेरे लिये जो आकर्षण है, वह प्रसादजी की कहानियों में नहीं हैं। इतनी लम्बी प्रस्तावना लिखने का कारण पाठकों को यह समझाना है कि मैं क्यों मोहन बना। अस्तु।

हाँ, उस दिन बड़ी गर्मी थी। मैं कमरे के एक कोने में बैठा था, प्रभा दूसरे कोने में बैठी थी और असिता तीसरे कोने में। सारे घर में निःस्तब्धता थी। सहसा वह निःस्तब्धता भंग हुई—'यहाँ कुछ भी नहीं होता। यहाँ कुछ भी नहीं है।' यह कहकर असिता ने एक दीर्घ निश्वास लिया और फिर गहमरीजी के प्रसिद्ध उपन्यास 'चक्करदार चोरी' को, जिसे वह ६ बजे से पढ़ रही थी मेज़ पर फेंक दिया। असिता की इस बात ने मुझे चौंका दिया। मैं तब हनुमान्-टोकरी तिलिस्म की बात सोच रहा था मैं असिता की बात का कुछ भी उत्तर न दे सका। प्रभा भी असिता के नैराश्य-विरक्ति-असन्तोषपूर्ण उक्ति सुनकर भूगोल पर अपना दृष्टि स्थिर न रख सकी। उसने भी किताब बन्द कर कहा—'हाँ, दीदी, सचमुच यह स्थान बिल्कुल अच्छा नहीं है। न तो सिनेमा·····।'

प्रभा की बात काटकर असिता ने कहा—'सिनेमा न हो' तो न सही। सिनेमा देखना ही चाहूँगी, तो अभी मोटर में बैठकर डोंगरगढ़ और राज-नँदगाँव जा सकती हूँ। पर यहाँ तो कोई घटना ही नहीं होती। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक वही एक तरह का जीवन रहता है। वही स्कूल, वही मास्टर, वही बकवास और वही सब कुछ। मैं तो बिल्कुल ऊब गई हूँ। कहीं भी जाओ, वही एक बात सुनो। यह स्थान ऐसा निश्चेष्ट, निष्क्रिय और निष्प्राण है कि कभी कोई बड़ी चोरी भी तो नहीं होती।'

'चोरी!'—प्रभा ने चकित होकर कहा—'चोरी-डकैती से क्या होगा, दीदी? और वैसे चोरी तो रोज़ ही होती है।'

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

असिता ने विरक्ति से कहा—'तुम कुछ नहीं समझती। मैं लोटा-थाली या कटोरे की चोरी की बात नहीं कह रही हूँ। मैं तो चाहती हूँ कि ऐसी चोरी हो, जिससे बड़े-बड़े जासूस चक्कर में पड़ जायँ। अभी मैंने एक ऐसी ही चक्करदार चोरी की कथा पढ़ी है। सवा लाख की चक्करदार चोरी हुई थी और उसका पता लगाया एक जासूस ने। युवावस्था के एक उन्माद ने, प्रेम की एक भूल ने, सभी लोगों से अलक्षित कैसा भयानक रूप धारण कर लिया और अन्त में वह किस प्रकार एक भयानक काण्ड में परिणत हो गया? कितनी रहस्यमय है यह कथा! एक के बाद एक आश्चर्यजनक घटनाएँ होती हैं, और अन्त में चोर पकड़ा जाता है। यहाँ तो किसी ने ताला तोड़ा कि पकड़ा गया, और उसे छः महीने की सजा हो गई। न कोई आश्चर्यजनक घटना होती है और न कोई रहस्यमय भेद ही खुलता है। अगर कोई ऐसी ही विचित्र चोरी होती, तो···' कहते-कहते असिता रुक गई।

'तो क्या दीदी?—प्रभा ने पूछा—तो क्या होता।

'तो मैं उसका पता लगाती।' असिता ने कहा।

प्रभा ने असिता की यह बात सुन बड़े आश्चर्य से कहा—'तुम कैसे पता लगा लेतीं? तुम तो अभी छोटी हो!"

असिता ने कहा—'मैं १४ साल की हूँ' तुमसे दो वर्ष बड़ी हूँ। छोटी तो तुम हो, तभी तो कहती हूँ कि तुम कुछ समझती नहीं। मैंने इतने दिनों तक क्या यों ही गोविन्दराम की कथाएँ पढ़ी हैं। मैं सब समझ गई हूँ। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि गोविन्दराम किस तरह अपराधियों को ढूँढ़ निकालते थे। क्यों मोहन तुम क्या सोचते हो?'

मोहन अर्थात् मैं असिता से अवस्था में बड़ा होने पर भी उसका अनुचर था। मुझे दुःख यही था कि वह तिलिस्म और ऐयारों के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करती थी, बल्कि उन्हें कल्पना-जगत् की मिथ्या बातें भी समझती थी। उसे तो यथार्थ जगत् की बातों से प्रेम था। मैं सोचता ही

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

रह जाता था कि वह कमला बन किसी मायारानी की सभा में जाती और तब मैं भी चण्डूल बनकर वहाँ पहुँचता। पर ऐयारों के इस स्वाँग से उसे चिढ़ थी वह तो गोविन्दराम की अनुगामिनी थी। वह संसार के रहस्यागार को तर्क के आलोक से स्पष्ट कर देना चाहती थी। वह वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा मनुष्य जीवन को छिन्न-भिन्न कर उसका यथार्थ रूप देखना चाहती थी। वह मनोविज्ञान को समझकर संसार को अपराधियों से हीन करना चाहती थी। घर बैठे केवल देखकर ही वह अपनी बुद्धि द्वारा अन्तर्जगत् की सभी रहस्यमयी बातों का पता लगा लेना चाहती थी। इसीलिए मैंने कहा—'तुम ठीक कहती हो।'

'सुनो' असिता ने गम्भीर स्वर से कहा—'चोर अपने चेहरे को दाढ़ी और मूँछों से छिपाए रखते हैं। वह चश्मा भी लगाते हैं। वे लोग ऐसा क्यों करते हैं क्या तुम बतला सकती हो?

'नहीं दीदी' मैं तो नहीं जानती।' प्रभा ने सिर हिलाकर कहा।

तब असिता कहने लगी—'बात यह है कि दाढ़ी-मूँछ मुड़ा लेने और चश्मा निकाल देने पर उनका चेहरा ऐसा बदल जाता है कि होशियार लोग भी उन्हें नहीं पहचान पाते।'

प्रभा प्रतिवाद नहीं कर सकी। वह जानती थी कि असिता की बुद्धि तीक्ष्ण है। दसवें क्लास में वही फ़र्स्ट है। इसलिए असिता जो कुछ कह देती, वह चुपचाप स्वीकार कर लेती थी। जब दोनों इसी चिन्ता में मग्न थीं कि कब कोई ऐसी घटना हो उसी समय बल्लभ दौड़कर आया और कहने लगा—'दीदी, दीदी, तुमने कुछ बात सुनी है? कल रात को एक बड़ी विलक्षण घटना हो गई, बड़ी विलक्षण!

असिता ने कहा—'हाँ' समझ गई। तुमको मास्टर भूगोल में पास कर दिया होगा।'

बल्लभ ने कहा—'वाह, यह क्या कोई विलक्षण बात है? मैं क्या

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

भूगोल में पास नहीं हो सकता था ? अच्छा तुम बताओ छोटी दीदी, क्या बात हुई है।'

प्रभा ने कहा—'अरूप और अनूप में लड़ाई हुई होगी।'

बल्लभ ने उत्तर दिया—'छिः, ऐसा झगड़ा तो दोनों में रोज ही होता है। अब तुम खूब सोचकर बताओ, दीदी! सचमुच बड़ी विचित्र बात है।

असिता ने कहा—'कोई चक्करदार चोरी···'

वल्लभ ने ताली पीटकर कहा—'हाँ, ठीक जान लिया तुमने, दीदी! सचमुच चक्करदार चोरी ही हुई है। कप्तान साहब घबराये हैं। किसी ने राजा साहब के कोट के सोने के बटन चुरा लिए हैं। महल से चोरी हुई है। १२ बटन थे और एक सोने की अँगूठी। न ताला टूटा, न चाबी ग़ायब हुई और चोरी हो गई।'

असिता ने सुनकर कहा—'हाँ, चोरी तो ऐसे ही होती है। "चक्करदार चोरी" में भी ऐसी ही चोरी हुई है। खजाञ्ची पर सब शक करते होंगे।'

बल्लभ ने विस्मित होकर कहा—'तुमने कैसे जान लिया, दीदी! सब हरी बाबू पर शक कर रहे हैं। वह बेचारा बड़ा घबरा गया है।'

असिता ने निश्चयात्मक स्वर से कहा—'पर वह चोर नहीं है, वह कभी चोर नहीं हो सकता।'

वल्लभ ने बड़ी प्रसन्नता से कहा—'सचमुच वह चोर नहीं है। पुलिस-वाले उसे व्यर्थ हैरान कर रहे हैं। उसका लड़का बड़ा अच्छा है। वह मेरे साथ पढ़ता है। उसको बुला लाऊँ दीदी?'

असिता ने कहा—अभी नहीं। अभी मैं इस घटना को अच्छी तरह सोच लूँ। इस चोरी में प्रेम का कैसा रहस्य-भेद होगा? अपनी किस प्रियतमा की किस इच्छा की पूर्ति के लिए किस चोर ने यह साहसपूर्ण काम किया है? अथवा किस लोभ या प्रतिहिंसा ने कपट का जाल रचा है? ये सभी बातें विचारणीय हैं।

al Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

असिता चोरी की चिन्ता में डूब गई। मैं भी उसी चिन्ता में लीन हो गया। प्रभा चुपचाप बैठी अपने भूगोल के चित्र देखने लगी और बल्लभ वहीं कुत्ते से खेलने लगा। उसी समय दो आदमी आकर सड़क पर खड़े हुए। एक के सिर पर पगड़ी थी। वह काफी ऊँचा था। बड़ी-बड़ी मूछें और दाढ़ी थी। आँखों पर चश्मा भी था। वह धीरे-धीरे दूसरे आदमी से कुछ बातें करने लगा। असिता को कुछ संदेह-सा हुआ। वह चुपचाप आड़ में जाकर उनकी बातें सुनने लगी। वह आदमी कह रहा था—'आज रात को १० बजे उसी शिव मन्दिर में मैं आऊँगा। बटनों का हाल तुमने सुना होगा। पुलिस भी ताक में है, इसीलिए हम लोग चार ही वहाँ रहेंगे। दूसरों का काम नहीं है।' यह कह कर वह चला गया। दूसरा आदमी भी चला गया।

असिता के चेहरे पर प्रसन्नता की झलक आ गई। उसने तुरन्त ही पुकारा—प्रभा, मोहन, दोनों आओ।' हम दोनों जाकर असिता के सामने खड़े हुए। असिता ने कहा—'मोहन, तुम्हारे पास टार्च है?'

मैंने कहा—'हाँ मैंने उसे अपने ऐयारी के बटुवे में रखा है।'

मेरी बात सुनकर असिता ने कुछ विरक्त होकर कहा—'मुझे तुम्हारी ऐयारी से कोई मतलब नहीं है। अच्छा अब यह बताओ कि तुम्हारे पास दो सीटियाँ हैं।'

मैंने कुछ खिन्न होकर कहा—'हाँ हैं तो।'

असिता ने कहा—'सुनो, मैंने चोरों का पता लगा लिया है आज हम तीनों रात को निकलेंगे। दो टार्च रक्खेंगे और सीटियाँ।'

प्रभा ने कहा—'हम रात को कितने बजे निकलेंगे? माँ जाने भी देगी?'

असिता ने कहा—माँ को कोई बात मालूम नहीं होनी चाहिए। बल्लभ भी अभी न जानने पाए। हम लोग सबके सो जाने पर रात को चुपचाप यहीं एकत्र होंगे और इसी रास्ते से चलेंगे।'

हम सबने यह निश्चय किया।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

रात को निर्धारित समय पर असिता और प्रभा मुझको लेकर निकलीं। अन्धेरी रात थी। मेरा हृदय धड़क रहा था; पर असिता निर्भय जा रही थी। कुछ ही देर में शिव-मन्दिर आ गया। असिता ने प्रभा और मुझको एक कोने में छिपाकर कहा—'मैं जब सीटी बजाऊँ तब तुम भी सीटी बजाना।' वह मन्दिर के पास पहुँच गई। वहाँ उसने खिड़की में से देखा कि एक कमरे में चार आदमी बैठे कुछ कर रहे हैं। रुपयों की खनखनाहट भी उसे सुनाई दी। तुरन्त ही नीचे आकर उसने सीटी बजाई। उसके सीटी बजाते ही मैंने भी दूसरी ओर से सीटी बजा दी। इतने में चार आदमी तुरन्त ही कूदकर भागे। असिता ने उन पर टार्च से रोशनी फेंकी। तब तो वे और तेजी से भागने लगे।

इसके बाद असिता, प्रभा और मुझको लेकर, मन्दिर के भीतर घुसी। वहाँ हमने देखा कि सोलह कौड़ियाँ पड़ी हुई हैं और उनमें चार चित हैं हम लोगों ने चार की आवाज भी सुनी थी। इन कौड़ियों का रहस्य मेरी समझ में न आया। मैं असिता की ओर देखने लगा। वह भी सोचने लगी कि इसका क्या मतलब है। सहसा उसकी दृष्टि मन्दिर की दीवार पर गई। उसमें कई छेद थे। असिता ने गिना आठ छेद थे। दूसरी दीवार पर भी आठ छेद थे। आठ और आठ सोलह हुए। कौड़ियों का गूढ़ अर्थ असिता ने समझ लिया। तब उसने चौथे छेद में टार्च की मदद से देखा। कुछ दबा-सा दिखाई पड़ा। उसने ईंट को हटाकर देखा, तो उसमें चमड़े का एक बेग दिखाई पड़ा। उसे खोलकर उसने देखा। उसी के भीतर सोने के बारह बटन थे और अँगूठी भी! मैं तो चकित होकर असिता की ओर देखने लगा।

फिर हम तीनों चुपचाप घर लौट आये।

सत्य अनन्त है; पर हमारा ज्ञान तो परिमित है। हम उससे जो पाते हैं, उसे सत्य न समझें तो और किसे समझें? संसार में प्रेम की अनन्त घटनाएँ होती हैं। जीवन में अनेक संयोगान्त और वियोगान्त लीलाएँ होती हैं। यह तो संयोग की बात है कि किसी विशेष नायक के जीवन में

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

किसी विशेष समय में विशेष सुख-दुख की परिस्थिति उत्पन्न करने के लिये कोई विशेष नायिका आ जाती है। 'श्रीकान्त' ने 'प्यारी' में जो सत्य पाया, अथवा 'शेखर' ने 'शशि' में सत्य पाया, वही उनके लिए सत्य है। हमने भी कौड़ियों द्वारा संयोग से चोरी का जो पता लगा लिया, उसकी सत्यता में हमें सन्देह नहीं था। दूसरे दिन हम लोगों ने बल्लभ को सब बातें बतला दीं। विजय-गर्व से उल्लसित होकर हम सब कप्तान साहब की राह देखने लगे। कुछ देर बाद कप्तान साहब असिता के घर वकील साहब से बात करने आये। चोरी की भी चर्चा हुई। कप्तान साहब ने कहा—'कुछ पता नहीं चला। हम लोगों ने बड़ी कोशिश की।' असिता, प्रभा और बल्लभ तीनों वहीं खड़े सुन रहे थे। बल्लभ ने कहा—'कप्तान साहब' हम लोगों ने पता लगा लिया है। ये हैं आपके बटन और अँगूठी।'

सब देखकर दंग रह गये। बहुत आश्वासन देने पर बल्लभ ने सारी घटना कह सुनाई। सब हँसने लगे।

पर अब असिता को जासूसी उपन्यास पढ़ने को नहीं दिए जाते हैं। वह अब शरद् बाबू और बंकिम बाबू के ही उपन्यास पढ़ा करती है। अब मुझे भी यह आशा नहीं है कि वह कभी कमलिनी या कमला हो सकेगी—आधुनिक उपन्यासों की रहस्यमयी, प्रेमोन्मादिनी, भावुकता से युक्त नायिका भले ही हो जाय। पर उसी के साथ मेरी ऐयारी और बटुवे का भी अन्त हो गया। प्रेम की रश्मि से अनुरंजित इस नव-साहित्य में ऐयारों के साहसपूर्ण नैपुण्य के लिये स्थान नहीं है। उसमें 'वीरेन्द्र' का शौर्य और 'इन्द्रजीत' का पराक्रम दोनों व्यर्थ हैं। अब तो सुनीता और हरिप्रसन्न तथा शशि और शेखर का युग है। स्त्री और पुरुष की समस्या ने प्रेम और क्रान्ति की वह चक्करदार पहेली बना दी है कि मैं उसमें पड़ना ही नहीं चाहता। मेरे पास यथेष्ट दुःख और चिन्ताएँ हैं। उपन्यास-लेखकों के कल्पित पात्रों के कल्पित दुःख और कष्ट में पड़कर कौन अपनी वेदना को बढ़ाना चाहेगा ?

———

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

बहस की बात

सियारामशरण गुप्त

(१८६५)

बहुत गम्भीर समस्या थी। एक सज्जन कह रहे थे, यह घर पूर्व दिशा में है; दूसरे सज्जन का कहना था; ऐसा हो नहीं सकता। अपने गले के जोर से उस घर को उठाकर ठेठ पश्चिम में रख देने की इच्छा उनकी थी। एक अँगरेज कवि के पूर्व और पश्चिम की तरह इन दोनों का दिक्-विपर्यय किसी एक दूसरे से मिलना ही न चाहता था। अपने मध्यकेन्द्र को बहुत पीछे छोड़कर बात गरमागरमी और तेजी से आगे बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में एक का मुक्का और दूसरे का सिर तो आपस में मिल सकता था, परन्तु उनके मत नहीं। वे दक्षिणी और उत्तरी ध्रुवों की अपेक्षा भी दूर होते जा रहे थे। ऐसे विकट प्रसंग में उस घर का प्राण-संकट टाल कर एक तीसरे सज्जन ने बताया कि यह घर आपके यहाँ से पूर्व है आपके यहाँ से पश्चिम। अतएव सही हैं तो आप दोनों, और गलत हैं तो आप दोनों। परिणाम यह हुआ कि इस तरह न तो पूर्व को पश्चिम में जाना पड़ा और न पश्चिम को पूर्व में; चरम परिपाक के बिना ही वह बहस यहीं शान्त हो गई,—कम से कम ऊपर से तो हो ही गई।

डर मुझे यह है कि अपने पाठक को मैंने नाराज कर दिया। मैं झूठ बोला इसकी तो कोई बात नहीं। झूठ बोलना तक मुझे नहीं आया, इसकी शिकायत अवश्य की जायगी। बहस कभी बिना बात की बात पर चल पड़ती है, यह मान लिया जायगा। परन्तु क्या ऐसा भी कोई हो सकता है, जो

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

पूर्व और पश्चिम जैसे स्वयं प्रकाशित विषय को लेकर मरने-मराने को तैयार था—इस पर फिर एक नई बहस उठ खड़ी होगी। उठ खड़ी हो, मैं अपनी बात से पीछे हटना नहीं चाहता।

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद सुस्पष्ट करने के लिए किसी ने दिन में ही सूर्य की यह मशाल जला रक्खी है। पर उसी के साथ उतना ही ठीक क्या यह नहीं है कि उसी के इस मशाल की पीठ पर अन्धकार भी प्रतिष्ठित कर रक्खा है। दिन हो तो उसके साथ रात है और रात हो तो उसके साथ दिन। उत्तर है तो दक्षिण भी होगा। इस तरह दो का यह उत्तर-प्रतिउत्तर, यह तर्क-वितर्क, अनादि काल से चला आता है। तब फिर पूर्व और पश्चिम के लिए पूर्वोक्त सज्जनों का इस प्रकार झगड़ पड़ना कुछ अनहोनी बात नहीं। देखा जाय तो हम में कदाचित ही कोई निकले जो इस पूर्व और पश्चिम के झगड़े में ठीक इसी प्रकार लिप्त न हो। यह दूसरी बात है कि अपनी भिन्न-भिन्न बोलियों में इन्हें हम और कुछ कहते हों। मिट्टी हो, कंकड़ हो, पत्थर हो, कुछ क्यों न हो,—इससे विग्रह की प्राण-प्रतिष्ठा उसी में कर दी जाती है। कैसे की जाती है। यह बताने के लिए हमारे विश्वविद्यालय भी कम सक्रिय नहीं। इस अचिर जीवन का केवल आधा ही लेकर अपने प्रमाणपत्र के साथ वे हमें छुट्टी दे देते हैं कि अब तुम किसी भी राज दरबार में जाकर पूर्व को पश्चिम घोषित कर सकते हो और पश्चिम को पूर्व। न्यायालयों में जितने भी मामले पहुँचते हैं, उनमें अधिकांश इन सम्मुख विरोधी दो दिशाओं के विवाद के ही नए नए आदर्श अथवा साँचे हैं।

न्यायालय ही नहीं, हमारा यह महाभारत रात दिन सर्वत्र चला करता है। इसके लिए अठारह अक्षौहिणी की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक और एक दो, बस इतनी ही संख्या पर्याप्त है कोई दूसरा न हो तो अकेले अपने आप भी हम यह कसरत कर सकते हैं। परन्तु रूखी

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

रोटी की तरह अकेले अकेले की यह कसरत हमारे मानसिक आहार में अनाहार से अधिक नहीं। कदाचित् इसी कारण काल कोठरी की सजा वर्तमान समय की एक बहुत बड़ी सजा है। तो हाँ, जहाँ हम दो एकत्र हुए, एक कहता है,—'यह बात ऐसी है'; दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—नहीं; यह बात ऐसी हो नहीं सकती!' दूसरे का यह उत्तर इतना स्वाभाविक, अतः तर्क संगत है कि प्रसंग कुछ जाने समझे बिना हम भी उसे अपना मत दे सकते हैं। भला बताइए, वैसा हो कैसे सकता है जब कि वैसा हो सकने की बात पहले ही कोई कर चुका हो।

यह तर्क या बहस प्रारम्भ हुई नहीं कि एक बड़ा जन-समूह तुरन्त हमारे आसपास इकट्ठा हो जाता है। किसके पैर में कितनी तेजी है, इसके आगे की बात शिष्ट पाठक को सहन न होगी, इसी से अस्पृश्य समझ कर यहीं छोड़ी जाती है।

परन्तु इस तर्क-प्रसंग को मेरे अस्पृश्य समझ लेने से इसका कुछ भी नहीं बिगड़ता। संसार के अधिकांश युद्धों का उद्गम इसी के भीतर मिलेगा। वे होते ही रहते हैं। वहाँ आरम्भ में एक कहता है—'ऐसा'—दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—'ऐसा हर्गिज नहीं।' बस इसी के बाद सेना, सैनिक, सेनापति और उनकी तलवार, तोप और गोले। संसार के इतिहास का सबसे रोचक अध्याय यही है।

तो हाँ, जब किसी एक को अस्पृश्य कर छोड़ दिया गया है, किसी दूसरे को ब्राह्मण कहना ही पड़ेगा। किन्तु बहुत शुद्धाचारी और तपस्वी होने के कारण यह ब्राह्मण तर्क सबके लिए जान नहीं पड़ता। बात करने भी बैठे और डरते भी रहे कि कहीं किसी को चोट न लग जाय तो भला यह भी कोई बात हुई! सच पूछो तो तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। इसका काम ही मारना, मरना और फिर फिर जी उठना है। इक्कीस-इक्कीस बार इसे निर्वंश ही क्यों न कर दो, फिर भी जब देखो, तब इसका वही तेज। साहित्यिक ने व्यंग्य और व्यञ्जना के आवरण में कोमल करने—इसे

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

वैश्य-वर्ण में लाने का यत्न किया है। परन्तु वहाँ भी इसका जन्मगत जातीय गुण छिपा नहीं रहता।

पर अब कुछ सावधानी की आवश्यकता है, नहीं तो यह आरोप किया जायगा कि लेखक को बहस में मुँहकी खानी पड़ती है, इसीसे छिपे छिपे वह तर्क की निन्दा कर रहा है। इस पर मेरा कहना यह है कि जीभ राम का नाम लेने में ही हार सकती है, बहस अथवा तर्क करने में नहीं।

वास्तव में जीभ की महिमा है ऐसी ही। विधाता ने हमें आँख, कान, हाथ, पैर ये सब दो दो की संख्या में दिये हैं, तब प्रश्न उठता है, जीभ ही उसने हमें एक क्यों दी? नाक भी उसने एक ही दी थी। जान पड़ता है, बाद में उसे इसमें अपनी भूल मालूम हुई। इसीसे इसके बीचोबीच उसने एक दीवार खड़ी करके एक को दो में बदल दिया है। चाहता तो वह जीभ के लिए भी किसी ऐसे ही संशोधन का प्रबन्ध कर सकता था। परन्तु उसने ऐसा किया नहीं। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी पर भी यह प्रयोग करने की आवश्यकता उसने नहीं समझी। तब यह क्यों न माना जाय कि जीभ के एक रखने में उसका कुछ विशेष हेतु था? इसे उसकी कोरी भूल समझने से काम न चलेगा।

निश्चय ही जीभ का दो होना ठीक न होता। इस समय साँप के द्विजिह्व होने की बात कह कर मैं अपना समर्थन नहीं करना चाहता। यह कह कर भी नहीं कि उस अवस्था में खाद्य पदार्थ और भी दुर्लभ हो जाते। मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि जीभ की संख्या में दो होने पर तर्क अथवा बहस करने के लिए किसी को अन्य की आवश्यकता न रहती। उस समय कोई भी हिमालय की निर्जन कन्दराओं में जा कर किसी दूसरे की सहायता के बिना ही अपना काम चला लेता। मनुष्य की एक जीभ कहती,—'मीठा'; दूसरी तुरन्त प्रत्युत्तर करती,—'नहीं, कड़ुआ' इस प्रकार अपने आपमें ही आनन्द रस के दोनों स्वाद पाकर मनुष्य में जिस अनपेक्षित स्वार्थपरता का उदय होता, उससे क्या हमारे इस

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

बहु-विचित्र संसार के असंख्य टुकड़े न हो जाते ? दूसरों का हित करने के लिये उस समय न तो हमें किसी सभा में उपस्थित होने की आवश्यकता पड़ती और न किसी दूसरे का ग्रन्थ पढ़कर उसकी समालोचना लिखने की। न प्रजा के चीत्कार का अस्तित्व ही होता, न राजा की एकान्त काल-कोठरी का। सचमुच ही यह बहुत बुरा होता ? इसी सबके कारण तो हमारा कर्म-मुखरित संसार इतना प्रिय और मधुर है !

तर्क अथवा बहस ही वह वस्तु है, जो हमारे मन में, अनजाने ही सही, यह बोध उत्पन्न करती है कि हमें छोड़कर भी किसी और को होना चाहिये। यह और कोई ऐसा है जिनके बिना हमारा जीवन नीरस हो जाता है। ऊपर से उस पर हम प्रहार ही क्यों न करें, भीतर से प्यार तो उसे करते ही हैं। मनुष्य में वाणी ही उसका सबसे बड़ा वैभव है। आँख ? वह हमसे अधिक गीध में है। कान घोड़े और गधे के भी हमसे बहुत बड़े हैं। कुत्ते की घ्राण-शक्ति की बराबरी तो हम कर ही नहीं सकते। दौड़ने की बात आती है, तब मृग का पशुत्व भूल कर, उसी की काल्पनिक समता में गौरव का अनुभव करना पड़ता है। जो बात कहीं दूसरे में नहीं मिलती, वह है हमारी वाणी। अतएव जब हम किसी की बात सुनते हैं तो स्वभावतः हमें यह अनुभूति होती है कि यह अपने उसी बड़प्पन की घोषणा कर रहा है। उसका महत्व खण्डित करके अपना महत्व स्थापित कर देना ही बहस की मनोवृत्ति का कारण है। इसका काम है, महात्वाकांक्षा की वृद्धि करके हमें और भी बड़ा कर देना। बैलों में जब यह वृत्ति पैदा होती है तो वे सींग चला देने के सिवा किसी दूसरे ढंग की बहस नहीं करते। मनुष्य की जीभ बिना सींग के सींग तो चला ही लेती है, और भी उसके लिये बहुत सी बातें आसान हैं। सच पूछो तो दूसरे प्राणियों में विधाता का जिह्वादान उसके बड़े से बड़े अपव्ययों में से एक है।

परन्तु अब और कुछ लिखने को जी नहीं करता। जीभ की स्तुति जीभ चलाकर ही की जा सकती है, लेखनी चलाकर नहीं। इन बातों को

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

काट कर कुछ कहनेवाला कोई दूसरा होता तब भी कुछ बात थी। यदि किसी दूसरे ने यह सब कहा होता तो वह कठिन काम मैं स्वयं स्वीकार कर लेता। पर अब तो बाहर जाकर ही जीभ की यह प्यास मिट सकेगी। मैंने जिसे पूर्व कह दिया है, उसे पूर्व ही कहता जाऊँ, तब यह असम्भव है कि उसे पश्चिम कहनेवाला कोई न मिल सके। हम दो के बीच में भी कोई ऐसा आ पड़ा, जो मेरे पूर्व को पूर्व रहने दे और दूसरे के पश्चिम को पश्चिम, तो भी हानि नहीं है। चतुर माली द्वारा कुछ काट-छील कर एक में बाँधी गई भिन्न भिन्न वृक्षों की दो शाखाएँ एक रस हो सकती हैं और हो जाती हैं। पर मेरे में मेरा फूल खिलेगा, दूसरे में दूसरे का इसमें अन्तर आना असम्भव है।

———

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

राम-कथा

जैनेन्द्र कुमार

(१६०५)

एक बार पड़ोसी सज्जन के यहाँ से निमंत्रण आया। दशहरा पास आ रहा है, दूर से एक विद्वान पण्डित पधारे हैं, रामायण की कथा होगी,— मैं कृपा कर कथा में सम्मिलित होकर उत्सव की शोभा बढ़ाऊँ।

उत्सव की तो शोभा मुझ से क्या बढ़ सकती है; लेकिन, रामायण कोटि-कोटि भारतीयों को प्यारी है। मैं भी उस प्यार को चाहता हूँ। मैंने रामायण नहीं पढ़ी है; अंग्रेजी पढ़ी है; पर मुझे इस अंग्रेजी की जगह रामायण न पढ़ने पर गर्व नहीं है। कई मौकों पर जब सहस्रों नर-नारियों के समुदाय को राम-सीता के स्तुति गान पर गद-गद हो जाते देखा है, तब मैं उन सब लोगों को 'मूढ़-मति' कह कर टाल नहीं सका हूँ। मैं बरबस उनसे प्रभावित हो जाता हूँ। राम के प्रति और सीता के प्रति मेरे मन में श्रद्धा उठती है। मैं अँगरेजी पढ़ रहा हूँ और हो सकता है कि बुद्धिमान के लिए श्रद्धा की अपेक्षा तर्क अधिक बुद्धि संगत हो; पर मेरी श्रद्धा मुझे बुरी नहीं लगती। यह श्रद्धा अति अनायास भाव से मेरी तर्क बुद्धि को लाँघ जाती है ? नहीं मानूँगा कि मैं बुद्धिवादी नहीं हूँ; पर सच कहूँ तो, श्रद्धा में मुझे अपनी बुद्धि की विफलता नहीं मालूम होती, कुछ सफलता ही मालूम होती है।

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

रामायण मैंने पढ़ी नहीं है, फिर भी मैं प्रकृत प्रभाव से उन कोटि-कोटि भारतीयों के समकक्ष बन जाना चाहता हूँ जो राम में परमात्मा देखते हैं और राम नाम के स्मरण से जिनको चित्त-शुद्धि प्राप्ति होती है।

भारत दीन है, वह परतन्त्र है। पश्चिम बढ़ रहा है और भारत मूढ़ता में पड़ा है। विज्ञान आविष्कार कर रहा है। भारत धर्म पर माथा टेके वहीं ऊँघ रहा है। धर्म भारत का नशा है, वह क्लैव्य है, वह बुद्धि-हीनता है। भारत ऐसे ही तो परतन्त्र बना! पश्चिम ने उस पर प्रभुता स्थापित की और भारत पद-दलित बना हुआ अब भी अपने धर्म के गीत गाता और अतीत के सपने लेता है। उसे शक्ति चाहिए, शक्ति! उसे क्षमता चाहिए, बुद्धि चाहिए, विज्ञान चाहिए। उसे धर्म से छुट्टी चाहिए। वह धर्म ही तो उसका रोग है जिसने उसे निष्प्राण बना डाला है।

ऐसा कहा जाता है। ठीक ही कहा जाता होगा! कहने वाले वाग्मी विद्वान् हैं, वे विचक्षण हैं, वे गलत क्यों कहेंगे? वे अध्ययन तुलनात्मक करते हैं। वे पक्षहीन बात करते हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान देखा है और विलायतें भी देखी हैं। उनकी बात क्यों पुख्ता नहीं होगी? यह किसी की स्पर्द्धा है कि कहे—वह बात ग़लत भी हो सकेगी। बात उनकी है, तब क्यों ठीक ही नहीं होगी?

लेकिन, मैं जानता नहीं। पढ़ कर भी कुछ अधिक नहीं जाना हूँ। तभी तो, जन-सामान्य से मैं प्रभावित होता हूँ! सचमुच प्रभावित होता हूँ! उस प्रभाव से इनकार कैसे? कोटि-कोटि ग्रामीणों के प्रणम्य उन सीता, राम, लक्ष्मण को तर्क से छिन्न-भिन्न करके अपने से दूर मुझ से नहीं किया जाता, मैं स्वयं उनके उस उत्साह में भाग लेने लगता हूँ। मुझे यह सब पसन्द भी आता है। तर्कवादी के सम्मुख मैं अपनी इस भावना को लेकर नहीं पड़ सकता। मैं जानता हूँ, वह अतर्क्य है। तर्क के सामने वह चुप हो रहेगी और मैं निरुत्तर दीखूँगा। मैं तर्कवादी से यही निवेदन कर सकूँगा कि वह मुझे इजाजत दें कि मैं पड़ोसी मित्र की रामायण की कथा में चला जा सकूँ।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

मैं कथा में गया। पण्डित जी बहुत अच्छी कथा बाँचते थे। सुन्दर गाते थे और तुलसीदासजी की रामायण उन्हें कण्ठस्थ थी। वह गौर-वर्ण सुडौल आकृति के पुरुष थे। कण्ठ सुरीला था, मुख आत्म-विश्वास में प्रसन्न। श्मश्रु-हीन चेहरे पर स्निग्ध आभा थी। अत्यन्त अनुकूल भाव-भंगिमा के साथ वे कथा बाँचते थे।

सुन्दरता सब जगह काम आनेवाली चीज है। तपस्वी सुन्दर क्यों न हो? पंडित अपने को सुन्दर क्यों न रक्खे? कुछ और गुण पीछे भी देखें, सुन्दरता तो सामने से ही दीखती है! उससे काम आसान होता है! सुन्दरता गुण है। चाहो तो वह आयुध भी है। मुझको ऐसा मालूम हुआ कि परिडतजी इस तत्त्व के तत्त्वज्ञ भी हैं। वे अज्ञान में नहीं हैं कि सुन्दर हैं और वे अपने को सुयत्नपूर्वक वैसा रखते भी हैं। उन्हें अभी युवा ही कहिए, यौवन की दीप्ति उनके आसपास है।

शताधिक नर-नारी वहाँ उपस्थित हैं और पण्डित जी का गला स्वच्छ है। अब मेरे पास एक त्रुटि है कि श्रीरामचन्द्र की महिमा मुझे इस प्रकार के आयोजन की सहायता से कुछ विशेष उन्नत हो गई नहीं जान पड़ती है। मैं अपने और राम के बीच में माध्यम अपनी श्रद्धा को ही पाऊँ, यह मुझे रुचिकर होता है। जब मध्य में कोई व्याख्या अथवा व्याख्याता उपस्थित हो, तब मेरी श्रद्धा मेरे ही भीतर सिमट रहती और वहाँ आलोचना जागती है। वह मुझे मेरे स्वभाव की प्रकृति मुझे बहुत खलती है। आलोचना मनुष्य पर क्यों छाये? आलोचना सदा वन्ध्या है, वह उपलब्धि में बाधा है; पर, सोच लिया करता हूँ कि एक बात है,—व्यक्ति को विवेक तो चाहिए ही। विवेक में अस्वीकृति अनिवार्य है। अस्वकृति की शक्ति न हो तो जीवन क्या जाए, निश्शक्त गीले मोम की भाँति कुछ आकार धारण करने के लिये बस वह निरा परापेक्षी ही न हो जाये! पर जीवन को तो कहीं हीरे की भाँति दृढ़ भी होना पड़ता है और कहीं वायु की भाँति अवकाशहारी बनना पड़ता है। इसलिये मैं किंचित् आलोचना को कथंचित्

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

अपने साथ चलने भी देता हूँ ।

पण्डितजी ने गले में कुछ मालाएँ स्वीकार कीं, फिर कुछ पूजन आदि किया, मङ्गलाचरण किया, और रामचन्द्र के जीवन के इतिवृत्ति का संक्षिप्त बखान आरम्भ किया। बताया कि अमुक तिथि, अमुक घड़ी, अमुक लग्न में अपने पिता राजा दशरथ के अयोध्या के महलों में माता रानी कौशल्या की कुक्षि से भगवान ने अवतार धारण किया। इससे आगे वह कुछ और कह रहे थे, तभी मेरा ध्यान अन्यत्र चला गया।

मनुष्य भी विचित्र प्राणी है। वह क्या विचित्र है!—असल में जो उसके भीतर छोटा सा मन दबक कर बैठा हुआ है, सारी विचित्रता तो उस मन की है! वह मन न देश की बाधा मानता है, न काल की। इस घड़ी यहाँ बैठे हो, तो मन उड़कर वहाँ पहुँच गया है, ठिकाना नहीं। दस बरस बीस बरस, पचास बरस, सौ, लाख, करोड़ बरस पहले कहीं मन चल गया है, या वह मन लाखों बरस आगे पहुँच गया है,—कुछ—हिसाब नहीं। यह सारा सफर वह मन छन में कर लेता है। इसी मन के बूते पर ही तो कवि लोग कह देते हैं कि व्यक्ति असीम है। साढ़े तीन हाथ का मानव व्यक्ति असीम भला क्या? इस अनन्त योजनों के विस्तार वाले विश्व में वह नन्हीं बूँद-सा भी तो नहीं है! उस नन्हीं बूँद के भीतर नन्हीं से भी जो कुछ नन्हीं चीज है, वही कम्बख्त तो समीपता में बँध कर पल-भर के लिये भी चैन से बैठती नहीं।

और, न उस मन के लिए देश की बाधा है। यहाँ धरती पर रक्खी कुर्सी पर बैठे हो, पर मन आसमान में उड़ रहा है। आसमान क्यों, वह सूरज में चला गया है। सूरज को पारकर वह जाने फिर कहाँ कहाँ भागा फिर रहा है! उस पर रोक-थाम ही नहीं चलती। मन तो मन है, उसके लिए कब यह नियम बन सका है कि वह किसी पंडित की सुस्वर कंठ-लहरी में गाई जाती हुई राम-कथा में से उठ कर और कहीं न जा सकेगा! सो मेरा मन और ही तमाशे की ओर चला गया।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

—कुछ रोज पहले की बात है। सप्ताह-भर हुआ होगा। ऊपर बादल हो रहे थे। वर्षा होने वाली थी। मौसम अनुकूल था। उस समय वह कमरा मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ जहाँ ऊपर साँवला आसमान तो है नहीं, कोरी छत है। और जहाँ चारों ओर दिशाएँ भी खुली नहीं हैं, बस चारों ओर से पक्की दीवारें घिरी हैं। सो मैं कमरे से निकल कर बाहर आया। बाहर आकर देखता हूँ कि हरीश और विमला में कुछ चर्चा छिड़ी है। वह किसी तत्व पर उलझे हैं और मेरे बाहर आने का उन्हें पता ही नहीं लगा है।

हरीश ने कहा—मैं बड़ा हूँ मैंने ज्यादा आम खाये।

विमला बड़ी न हो; पर लड़की है। उसने जोर से कहा—मैंने खाये।

हरीश—मैंने पाँच खाये!

विमला—मैंने पाँच खाये!

हरीश—मैंने दस खाये।

विमला—मैंने दस खाये।

हरीश—मेरी बात तू क्यों कहती है?—मैंने बीस खाये।

विमला—मैंने बीस खाये!

हरीश—तू झूठ बोलती है मैंने चालीस खाये। मैंने पचास खाये। विमला को सहसा याद आया कि एक बड़ी चीज होती है जिसका नाम है 'सौ' खाये। उसने कहा—मैंने सौ खाये।

हरीश—सौ! मैंने पचास सौ हजार खाये। विमला ने बड़े गर्व से कहा—मैंने सत्रह खाये! हरीश ने ताली बजा कर कहा-ओहो जी, सत्रह ज्यादा होते ही नहीं!

तब विमला ने तल्लीनता के साथ दोनों हाथ फैलाकर कहा—मैंने इत्ते खाए। हरीश एकदम खड़ा हो गया। पंजों के बल तनकर और अपनी दोनों बाहें खूब फैलाकर उसने कहा—मैंने इत्ते खाये। बिमला ने हरीश को देखकर कहा—नहीं खाये। हरीश बोला—मैंने खाये सब के

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

सब, बादल—जित्ते मैंने आम खाये।

विमला नहीं खाये।

हरीश—मैंने; मैंने,—मैंने रामजी-जित्ते खाये !

यह कहते-कहते उसका फेफड़ा भर गया, मानों अब इससे अधिक पूर्णता कहीं और नहीं है। मानो कि बस अब आगे किसी के लिए भी गति नहीं है।

विमला ने हरीश के इस निश्चिन्त गर्व को देखा। उनकी तमाम गिनती जहाँ पहुँच कर शान्त हो जाती है,—तमाम कल्पना, तमाम शक्ति जहाँ पर पहुँच कर समाप्त और संपूर्ण हो जाती है वह हैं रामजी। पर वह रामजी क्या हैं ? विमला ने कहा—मैंने दो रामजी-जित्ते खाये। इस पर तनिक गंभीर सदय भाव से हरीश ने कहा—रामजी दो होते ही नहीं, विमला ! विमला आग्रही बनकर बोली—होते हैं। उस समय गुरुता के साथ हरीश ने कहा—विमला, रामजी दो नहीं होते।

सुन कर विमला चुप हो गई। उस समय उसे यह मालूम नहीं हो रहा था कि वह हारी है; न हरीश को अपने जीत का मान था, मानो हार जीत दोनों आ कर रामजी में अपना द्वित्व खो बैठे हैं। मानो जीत भी वहाँ वही है जो हार है।

मैं यह सब देख रहा था। मैंने देखा रामजी तक आकर वे दोनों परस्पर निस्तब्ध हो गये हैं। वे दोनों एक दूसरे को देख रहे हैं पर ऐसे जैसे कि कहीं अन्यत्र से पहुँच कर वे मिल गये हों और आपस की पृथकता उन्हें समझ न आ रही हो। मानो कि एक दूसरे को देखते रहने के अतिरिक्त और कुछ उनके बीच सम्भव ही न हो।

थोड़ी देर बाद हरीश ने कहा—अच्छा बताओ विमला, मेह कौन बरसाता है ?

विमला—बादल बरसाते हैं।

हरीश—बादल नहीं बरसाते हैं।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

विमला—तो फिर कौन बरसाता ?

हरीश ने बतलाया—रामजी बरसाते हैं।

उस समय मुझसे रुका नहीं गया और चलता हुआ मैं पास पहुँच गया; कहा—कोई भी मेह नहीं बरसाता जी। इतने देर से बादल भर रहे हैं। बताओ कहीं मेह बरस भी रहा है ? (और मैंने विमला को गोदी में उठा लिया) और क्यों जी हरीश बाबू, तुम्हारा रामजी मेह जल्दी क्यों नहीं बरसाता है, क्या बैठा सोच रहा है ?

हरीश लजा गया और विमला भी लजा गई। पण्डित जी की कथा सुन कर मुझे वह बालकोंवाला रामजी याद आ गया। पण्डितजीवाले रामजी, जो बाक़ायदा दशरथ के पुत्र हैं और जो निश्चित घड़ी में जन्म लेते हैं, क्या वही हैं जो बालकों का मेह बरसाते हैं ? दशरथ के पुत्र रामचन्द्र जी तो पण्डित जी की पण्डिताई के मालूम हुए। बादलों के ऊपर, आसमान के भी ऊपर, सभी कुछ के ऊपर, फिर भी सब कहीं जो एक अनिश्चित आकार-प्रकार के रामजी रहा करते हैं, मेह तो वह बरसाते हैं। वह रामजी पण्डिताई के नहीं वह तो बालकों के बालकपन के ही दीखते हैं। मैं सोचने लगा कि पण्डित का पाण्डित्य क्या सचमुच बच्चे के बचपन से गम्भीर सत्य नहीं है। बालक का रामजी, जिसका उसे कुछ भी ठीक अता-पता नहीं है, उन राजा रामचन्द्र से, जिनका रत्ती-रत्ती ब्यौरा पण्डित जी को मालूम है, क्या कभी जीत सकेगा ? क्या बालक-बालक और पण्डित महान् नहीं है ? लेकिन वहाँ बैठे-बैठे मुझे प्रतीत हुआ कि दशरथ के पुत्रवाले रामचन्द्र में जो कि पण्डित की व्याख्याओं में प्रत्यक्षतः अधिकाधिक ठोस होते जा रहे हैं, मेरे मन को उतनी प्रीति नहीं प्राप्त होती है जितनी बच्चों के 'रामजी' में। बच्चों का रामजी, कुछ हो, मुझे प्यारा तो मालूम होता है।

तभी पण्डितजी की ओर मेरी निगाह गई। उन्होंने मुख पर हाथ फेरा केशों को तनिक सँवारा, शिखा ठीक की, किंचित स्मित से मुस्कराये और

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

अत्यन्त सुरीली वाणी में तनिक अतिरिक्त मिठास के साथ ताल-लय के अनुसार रामायण की चौपाई गा उठे।

उनके निर्दोष गायन और पाण्डित्य-पूर्ण वक्तृत्व से प्रभावित हो कर मैं सोचने लगा कि क्या सचमुच इस समय पंडितजी के निकट अपना वाणी-विलास, अपना वाक्य-कौशल, अपनी ही सत्ता दशरथ पुत्र की सत्ता से अधिक प्रमुख और प्रलोभनीय नहीं है? मुझे ऐसा लगा कि उन पुण्य-श्लोक रामचन्द्र को मैं मानूँ या न भी मानूँ; पर उनकी कथा को लेकर इन पण्डितजी के मुँह से अविराम निकलती हुई सुललित वाग्धारा को तो मुझे प्रामाण्य मानना ही होगा,—कुछ ऐसा जादू पण्डितजी में था। मुझे प्रतीत हुआ कि राम-कथा साधन है, साध्य तो राम-कथा का सुमिष्ट वाचन है। राम तो राम थे; वह कभी रहे होंगे; पर आज तो देखो, यह पण्डितजी उस कथा का कैसा सुन्दर पारायण करते हैं! कहो, पंडित जी श्लाघनीय नहीं है?

मुझको वे बच्चे याद हो आए जो रामजी की याद में जैसे सुध-बुध बिसार बैठे थे। उनके लिए रामजी चाहे कितना ही अरूप-अव्यक्त हो; पर वह था। उस नाम पर वे उत्साहित हो सकते थे, था तो वह बालकों का बचपन ही, पर फिर भी वह बचपन उनका भाग था। 'राम'—यह मात्र शब्द के लिए न था, इससे कुछ बहुत अधिक था, बहुत अधिक था।

पण्डितजी के दशरथ-पुत्र रामचन्द्र भी क्या वैसे उनके निकट हैं? मुझे जानना चाहिए कि वह रामचन्द्र अधिक स-इतिहास हैं, उनका नाम धाम, पिता-माता, सगे-संबंधी, तिथि-ब्यौरा, उनके बारे का सब कुछ यह पण्डितजी जानते हैं। वह रामचन्द्रजी आवश्यक रूप में अधिक प्रमाण-युक्त शरीर-युक्त, तर्क-युक्त हैं। उनके सम्बन्ध में कम प्रश्न किए जा सकते हैं और लगभग सब प्रश्नों का उत्तर पंडितजी से पाया जा सकता है, लेकिन, क्या इसी कारण वह रामचन्द्र पंडितजी से दूर और अलग नहीं बन गए हैं! रामचन्द्र दशरथ के पुत्र थे, पर पंडितजी अपने पिता के पुत्र हैं। इसी-लिए रामचन्द्रजी जो रहे हों रहें, पण्डितजी तो पण्डित ही रहेंगे। हाँ,

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

राम-कथा करना इनका काम हो गया है, सो बड़े सुन्दर ढंग से वे उस कथा को कहेंगे। तदुपरांत, रामचन्द्र अलग वह अलग। उनका जीवन अपना जीवन है। वे जीवन को कोई रामचन्द्र (के आदर्श) के हाथ में क्यों, जाने देंगे?

यह सोचते मैंने देखा कि राम-कथा-स्नेह से भीगी पण्डितजी की तल्लीन दृष्टि असावधान और कर्म-कठोर पुरुष-वर्ग की ओर से हट कर रह-रह कर धर्म-प्राण भक्ति प्रवण अबलाओं की ओर अधिक आशा-भाव से बँध जाती है।

मुझे मालूम हुआ, कि पंडितजी के रामचन्द्र को छोड़ कर बालकों के रामजी की ओर इस समय उठकर तनिक चला जाऊँ तो यह मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का अपमान शायद न होगा।

मैं उठा। इतने में पड़ोसी सज्जन लपक कर आये, बोले—बैठिए, बाबू जी।

मैंने कहा—मैं जाऊँगा ज़रा......

सज्जन ने हाथ जोड़ कर कहा—जाइएगा? आपने बड़ी कृपा की। लीजिए, यह प्रसाद तो ले जाइएं।

मैंने प्रसाद लिया और चला आया।

---

bal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

जीने की कला

महादेवी वर्मा

(१६०७)

प्रत्येक कार्य के प्रतिपादन तथा प्रत्येक वस्तु के निर्माण में दो आवश्यक अङ्ग हैं—तद्विषयक विज्ञान और उस विज्ञान का क्रियात्मक प्रयोग। बिना एक के दूसरा अंग अपूर्ण ही रहेगा, क्योंकि बिना प्रयोग के ज्ञान प्रमाणहीन है और बिना ज्ञान के प्रयोग आधारहीन–अतः प्रत्येक विज्ञान में क्रियात्मक कला का कुछ अंश अवश्य रहता है और प्रत्येक क्रियात्मक कला भी अपने विज्ञान विशेष की अनुगामिनी बन कर ही सफल होती है। ये दोनों इतने सापेक्ष हैं कि एक को जानने में दूसरे को जानना ही पड़ता है।

यदि हम रङ्ग और उनके मिश्रण के विषय में जान लें, तूलिका आदि के विषय में सब कुछ समझ लें, परन्तु कभी इस ज्ञान को प्रयोग की कसौटी पर न कसें तो हमारा चित्रकला-विषयक ज्ञान परीक्षण के बिना अपूर्ण ही रह जायगा। इसी प्रकार यदि हम ज्ञान के बिना ही एकाएक रङ्ग भरने का प्रयत्न करने लगें तो हमारा यह प्रयास भी असफल ही कहा जायगा। चित्रकला की पूर्णता के लिए और सफल चित्रकार बनने के लिए हमें तत्सम्बन्धी ज्ञातव्य को जानकर प्रयोग में लाना ही होगा। यही अन्य कलाओं के लिए भी सत्य सिद्ध होगा।

यदि हम ध्यान से देखें तो संसार में जीना भी ऐसी कला जान पड़ेगी जिसमें उपर्युक्त दोनों साधनों का होना अनिवार्य है। सामूहिक तथा

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

व्यक्तिगत विकास के लिये कुछ सिद्धान्तों का ज्ञान जितना आवश्यक है, उतना ही या उससे भी कुछ अधिक आवश्यक उन सिद्धान्तों का उचित अवसर पर उपयुक्त प्रयोग भी समझा जाना चाहिए। यदि हम ऐसे सिद्धान्तों का भार जन्म भर ढोते रहें जिनका उपयुक्त प्रयोग हमें ज्ञात न हो, तो हमारी दशा उस पशु से भिन्न न होगी जिसको बिना जाने ही शास्त्रों और धर्मग्रन्थों का भार वहन करना पड़ता हो। इस प्रकार यदि हम बिना सिद्धान्त समझे उनका अनुपयुक्त प्रयोग करते रहें, तो हमारी क्रिया बिना अर्थ समझे मन्त्रपाठी शुक की वाणी के समान निरर्थक हो उठेगी।

हमारे संस्कारों में जीवन के लिये आवश्यक सिद्धान्त ऐसे सूत्र रूप में समा जाते हैं, जो प्रयोग रूपी टीका के बिना न स्पष्ट हो पाते हैं और न उपयोगी। 'सत्यं ब्रूयात्' को हम सिद्धान्त रूप से जान कर अपना विकास कर सकते हैं और न समाज का उपकार, जब तक अनेक परिस्थितियों, विभिन्न स्थानों और विशेष कालों में उसका प्रयोग कर उसके वास्तविक अर्थ को न समझ लें—उसके यथार्थ रूप को हृदयङ्गम न कर लें।

एक निर्दोष के प्राण बचाने वाला असत्य उसकी हिंसा का कारण बनने वाले सत्य से श्रेष्ठ ही रहेगा; एक क्रूर स्वामी की अन्यायपूर्ण आज्ञा को पालन करने वाले सेवक से उसका विरोध करने वाला अधिक स्वामिभक्त कहलायेगा और दुर्बल पर अन्याय करने वाले अत्याचारी को क्षमा कर देने वाले क्रोधजित् से उसे दण्ड देनेवाला क्रोधी संसार का अधिक उपकार कर सकेगा। अन्य सिद्धान्तों के लिये भी यही सत्य है और रहेगा।

सिद्धान्तों की जितनी भारी गठरी लेकर हम अपने कर्मक्षेत्र के द्वार तक पहुँचते हैं, उतना भारी बोझ लेकर कदाचित् ही किसी अन्य देश के व्यक्ति को पहुँचना पड़ता हो, परन्तु फिर भी कार्यक्षेत्र में हमीं सबसे अधिक निष्क्रिय प्रमाणित होंगे, कारण, हम अपने सिद्धान्तों को उपयोग से बचा-बचाकर उसी प्रकार रखने में उद्देश्य की सिद्धि समझ लेते हैं, जिस प्रकार

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

धन को व्यय से बचा रखने वाले कृषक उसके सञ्चय में ही अपने उद्योग की चरम सफलता देख लेते हैं।

परिस्थिति, काल और स्थान के अनुसार उनके प्रयोग तथा रूपों के विषय में जानने का न हमें अवकाश है न इच्छा। फल यह हुआ कि हमारा जीवन अपूर्ण वस्तुओं में सबसे अधिक अपूर्ण होने का दुर्भाग्य मात्र प्राप्त कर सका।

आज तो जीने की कला न जानने का अभिशाप देश-व्यापक है, परन्तु विशेष रूप से स्त्रियों ने इस अभिशाप के कारण जो कुछ सहा है उसे सहकर जीवित रहने का अभिमान करनेवाले विरले ही मिलेंगे। यह सत्य है कि हमारे देश में व्यक्ति को इतना महत्व दिया गया था कि कहीं-कहीं हमें उसके विकास के साधन भी एक विचित्र बन्धन जैसे लगने लगते हैं। परंतु यह कहना अन्याय होगा कि उन प्राचीन युग के निवासियों ने व्यक्तिगत विकास को दृष्टिविंदु बनाकर सामूहिक या सामाजिक विकास को एक क्षण के लिये भी दृष्टि से ओझल होने दिया। उनका जीवन-विषयक ज्ञान कितना वैयक्तिक किन्तु व्यापक, स्थिर किन्तु प्रत्येक परिस्थिति के अनुकूल और एक किन्तु सामूहिक था, इसका प्रमाण हमें उन सिद्धान्तों में मिल जाता है जिनके आकर्षण से हम अपनी अज्ञानावस्था में भी नहीं छूट पाते और इस ज्ञान का उन्होंने कैसे उपयुक्त तथा प्रगतिशील प्रयोग किया, यह समाज के निर्माण और व्यक्ति के जीवन के पूर्ण विकास को दृष्टि में रखकर खोजे गये साधनों से स्पष्ट हो जाता है। यदि हम शताब्दियों से केवल सिद्धान्तों का निर्जीव भार लिये हुए शिथिल हो रहे हैं तो इसमें हमारा और हमारी परिस्थितियों का दोष है। यदि हम अपने जीवन को सजीव और सक्रिय बनाना चाहते, अपनी विशेष परिस्थितियों में उनका प्रयोग कर उनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, उपयुक्तता-अनुपयुक्तता का निश्चय कर लेते और जीवन के ज्ञान और उसके क्रियात्मक प्रवाह को साथ बहने देते तो अवश्य ही हमारा जीवन उत्कृष्ट कला का निदर्शन होता है।

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

हमने जीवन को उचित कार्य से विरत कर उसी के व्यवस्थापक नियमों को अपने पैर की बेड़ियाँ बनाकर उन्हें भी भारी बना डाला, अतः आज यदि लक्ष्य तक पहुँचने की इच्छा भी भूल गये तो आश्चर्य ही क्यों होना चाहिए।

इस समय भारतीय नारी के पास ऐसा कौन सा विशिष्ट गुण नहीं है, जिसे पाकर किसी भी देश की मानवी देवी न बन सकती हो। उसमें उस सहनशक्ति की सीमा समाप्त है जिसके द्वारा मनुष्य घोर से घोरतर अग्नि परीक्षा हँसते-हँसते पार कर सकता है और अपने लक्ष्य के मार्ग के बाधाओं पर बाधाएँ देखकर नहीं सिहरता; उसमें वह त्याग है जो मनुष्य की क्षुद्र से क्षुद्र स्वार्थवृत्ति को क्षण में नष्ट कर डालता है और उसे अन्य के कल्याणार्थ अपनी आहुति के लिये प्रस्तुत कर देता है, उसमें मनुष्य को देवता की पंक्ति में बैठा देनेवाली वह पवित्रता है जो मरना नहीं जानती तथा उसमें हमारी संस्कृति का वह कोष है जिसकी किसी अन्य के द्वारा रक्षा सम्भव ही नहीं थी। वह आज भी त्यागमयी माता, पतिव्रता पत्नी, स्नेहमयी बहिन और आज्ञाकारिणी पुत्री है, जब संसार के जाग्रत अंशों की स्त्रियाँ भौतिक सुखभोग पर अपनी युगजीर्ण संस्कृति न्योछावर किये दे रही हैं। इन्हें त्याग के, बलिदान के और स्नेह के नाम पर सब कुछ आता है, परन्तु जीने की वह कला नहीं आती जो इन अलौकिक गुणों को सजीव कर देती!

जीर्ण से जीर्ण कुटीर में बसनेवालों में भी कदाचित् ही कोई ऐसा अभागा निर्धन होगा, जिसके उजड़े आँगन में एक भी सहनशीला, त्याग-मयी, ममतामयी स्त्री न हो।

स्त्री किस प्रकार अपने हृदय को चूर-चूर कर पत्थर की देव-प्रतिमा बन सकती है, यह देखना हो तो हिन्दू गृहस्थ की, दुधमुँही बालिका से शापमयी युवती में परिवर्तित होती हुई विधवा को देखना चाहिए जो किसी अज्ञात व्यक्ति के लिए हृदय की, हृदय के समान ही प्रिय इच्छाएँ कुचल-कुचल कर निर्मूल कर देती है, सतीत्व और संयम के नाम पर अपने शरीर और

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

मन को अमानुषिक यन्त्रणाओं के सहने का अभ्यस्त बना लेती है और इस पर भी दूसरों के अमङ्गल के भय से आँखों में दो बूँद जल भी इच्छानुसार नहीं आने दे सकती। अर्धाङ्गिनी की विडम्बना का भार लिए, सीता-सावित्री के अलौकिक तथा पवित्र आदर्श का भार अपने भेदे हुए जीर्ण-शीर्ण स्त्रीत्व पर किसी प्रकार सँभाल कर क्रीतदासी के समान अपने मद्यप, दुराचारी तथा पशु से भी निकृष्ट स्वामी की परिचर्या में लगी हुई और उसके दुर्व्यवहार को सहकर भी देवताओं से जन्म-जन्मांतर उसी का संग पाने का बरदान मांगने वाली पत्नी को देखकर कौन आश्चर्य्याभिभूत न हो उठेगा ? पिता के इङ्गित मात्र से अपने जीवन-प्रभात में देखे रङ्गीन स्वप्नों को विस्मृति से ढककर बिना एक दीर्घ निश्वास लिए अयोग्य से अयोग्य पुरुष का अनुगमन करने को प्रस्तुत पुत्री को देखकर किस का हृदय न भर आवेगा ! पिता की अट्टालिका और वैभव से वञ्चित दरिद्र भगिनी को ऐश्वर्य्य का उपभोग करने वाले भाई की कलाई पर सरलभाव से रक्षाबन्धन बाँधते देख कौन विश्वास कर सकेगा कि ईर्ष्या भी मनुष्य का स्वाभाविक विकार है और अनेक साहसहीन निर्जीव-से पुत्रों द्वारा उपेक्षा और अनादर से आहत हृदय ले उनके सुख के प्रयत्न में लगी हुई माता को देख कौन 'क्वचित् कुमाता न भवति' कहने वाले को स्त्री स्वभाव के गम्भीर रहस्य का अन्वेषक न मान लेगा ! परन्तु इतनी अधिक सहनशक्ति, ऐसा अप्रतिम त्याग और ऐसा अलौकिक साहस देखकर भी देखनेवाले के हृदय में यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता कि क्या ये विभूतियाँ जीवित हैं। यदि सजीवता न हो, विवेक के चिह्न न हों तो इन गुणों का मूल्य ही क्या है। क्या हमारे कोल्हू में जुता बैल कम सहनशील है ! यन्त्रणाएँ भोगता है ! शव हमारे द्वारा किये गये किसी अपमान का प्रतिकार नहीं कर सकता, सब प्रकार के आघात बिना हिले-डुले शान्ति से सह सकता है, हम चाहे उसे अतल जल में बहा कर मगर मच्छ के उदर में पहुँचा दें चाहे चिता पर लिटाकर राख करके हवा में उड़ा दें परन्तु उसके मुख से न निश्वास निकलेगी, न आह, न निरन्तर खुली पथराई आँखों में

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

जल आवेगा, न अंग कम्पित होंगे! परन्तु हम क्या उसकी निष्क्रियता की प्रशंसा कर सकेंगे?

आज हिन्दू स्त्री शव के समान ही निस्पन्द है। संस्कारों ने उसे पक्षाघात के रोगी के समान जड़ कर दिया है, अतः अपने सुख-दुःख को चेष्टा द्वारा प्रकट करने में भी असमर्थ है।

इसके अतिरिक्त ऐसी सीमातीत सहिष्णुता की प्रशंसा सुनते-सुनते वह अब इसे अपने धर्म का आवश्यक अंग समझने लगी है।

जीवन को पूर्ण से पूर्ण रूप तक विकसित कर देने योग्य सिद्धान्त उसके पास हैं, परन्तु न उनका परिस्थिति विशेष में उचित उपयोग ही वह जानती है और न उनका अर्थ ही समझती है, अतः जीवन और सिद्धान्त दोनों ही भार होकर उसे वैसे ही संज्ञाहीन किये दे रहे हैं जैसे ग्रीष्म की कड़ी धूप में शीतकाल के भारी और गर्म वस्त्र पहिने हुए पथिक को उसका परिधान। जीवन को अपने साँचे में ढालकर सुन्दर और सुडौल बनाने वाले सिद्धान्तों ने ही अपने विपरीत उपयोग से भार बनकर उसके सुकुमार जीवन को उसी प्रकार कुरूप और वामन बना डाला है जिस प्रकार हाथ का सुन्दर कङ्कड़ चरण में पहना जाने पर उसकी बुद्धि को रोक कर उसे कुरूप बना देता है।

हिन्दू समाज ने उसे अपनी प्राचीन गौरव-गाथा का प्रदर्शन मात्र बना कर रख छोड़ा है। और वह भी मूक निरीह भाव से उसको वहन करती जा रही है। शताब्दियाँ बीती चली जा रही हैं, समय की लहरों में परिवर्तन पर परिवर्तन बहते आ रहे हैं, परिस्थितियाँ बदल रही हैं, परन्तु समाज केवल स्त्री को जिसे उसने दासता के अतिरिक्त और कुछ देना नहीं सीखा, प्रलय की उथल-पुथल में भी शिला के समान स्थित देखना चाहता है। ऐसी स्थिरता मृत्यु का शृङ्गार हो सकती है जीवन का नहीं। अवश्य ही मृत्यु में भी एक सौन्दर्य है परन्तु वह जीवन के रिक्त स्थानों को तो नहीं भर सकता!

धन की प्रभुता या पूँजीवाद जितना गर्हित है उतना ही गर्हित रूप धर्म और अधिकार का हो सकता है, फिर उसके विषय में तो कहना ही व्यर्थ है

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

जिसे धन, धर्म और अधिकार तीनों प्रकार की प्रभुता प्राप्त हो चुकी है।

समाज में उपार्जन का उत्तरदायित्व मिल जाने से पुरुष को एक प्रकार का पूँजीपतित्व तो प्राप्त हो ही गया था, शक्ति अधिक होने के कारण अधिकार मिलना भी सहज प्राप्य हो गया। इसके अतिरिक्त अपने आप को अधिक से अधिक स्वच्छन्द और स्त्री को कठिन से कठिन बंधन में रखने में समर्थ हो सका।

धीरे-धीरे बनते-बनते स्त्री को बाँध रखने का सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक उपकरणों से बना हुआ यन्त्र इतना पूर्ण और इतना सफलता युक्त सक्रिय हो उठा कि उसमें ढल कर स्त्री केवल सफल दासी के रूप में ही निकलने लगी। न उसकी मानसिक दासता में कोई अभाव या न्यूनता थी और न शारीरिक दासता में—विद्रोह तो क्या अपनी स्थिति के विषय में प्रश्न करना भी उसके लिए जीवन में यन्त्रणा और मृत्यु के उपरान्त नरक मिलने का साधन था। आज यन्त्रों के युग में भी दासत्व के इस पुराने परन्तु दृढ़ यन्त्र के निर्माण कौशल पर हमें विस्मित होना पड़ता है क्योंकि इसमें मूक यन्त्रणा सहने वाला व्यक्ति ही सहायता देने वाले के कार्य में बाधा डालता रहता है। मनुष्य को न नष्ट कर उसकी मनुष्यता को इस प्रकार नष्ट कर देना कि वह उस हानि को जीवन का सबसे उज्ज्वल सबसे बहुमूल्य और सबसे आवश्यक लाभ समझने लगे, असम्भव नहीं तो कठिनतम प्रयाससाध्य अवश्य है। प्रत्येक बालिका उत्पन्न होने के साथ ही अपने आपको ऐसे पराये घर की वस्तु मानने और बनने लगती है जिसमें न जाने की इच्छा करना भी उसके लिए पाप है। विवाह के व्यवसाय में उसकी विद्या पासङ्ग बने हुए ढेले के समान है जो तुला को दोनों ओर समान रूप से गुरु कर देता है, कुछ उसके मानसिक विकास के लिए नहीं। उसकी योग्यता, उसकी कला पति के प्रदर्शन तथा गर्व की वस्तु है, उसे सत्यं शिवं सुन्दरम् तक पहुँचने का साधन नहीं; उसके कोमलता, करुणा, आज्ञाकारिता, पवित्रता आदि गुण उसे पुरुष को इच्छानुकूल बनाने के

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

लिए आवश्यक हैं, संसार पर कल्याण वर्षा के लिए नहीं। न स्त्री को अपने जीवन का कोई लक्ष्य बनाने का अधिकार है और न समाज-द्वारा निर्धारित विधान के विरुद्ध कुछ कहने का। उसका जीवन पुरुष के मनोरञ्जन तथा उसकी वंश वृद्धि के लिए इस प्रकार चिरनिवेदित हो चुका है कि उसकी सम्मति पूछने की आवश्यकता का अनुभव भी किसी ने नहीं किया। वातावरण भी धीरे-धीरे उसे ऐसे ही मूक आज्ञा-पालन के लिए प्रस्तुत करता रहता है। गृहणी का कर्तव्य कम महत्वपूर्ण नहीं यदि वह साधिकार और स्वेच्छा से स्वीकृत हो। जिस गृह को बचपन से उसका लक्ष्य बनाया जाता है यदि उसपर उसे अन्न-वस्त्र पाने के अतिरिक्त कोई और अधिकार भी होता, जिस पुरुष के लिए उसका जीवन एकान्त रूप से निवेदित है यदि उसके जीवन पर उसका भी कोई स्वत्व होता तो यह दासता स्पृहणीय प्रभुता बन जाती। परन्तु जिस गृह के द्वार पर भी वह बिना गृहपति की आज्ञा के पैर नहीं रख सकती, जिस पुरुष के घोर अन्याय, नीच से नीच आचरण के विरोध में दो शब्द कहना भी उसके लिए अपराध हो जाता है, उस गृह को बन्दीगृह और पुरुष को कारारक्षक के अतिरिक्त वह और क्या समझे!

इसमें संदेह नहीं कि ऐसी परिस्थिति का कुछ उत्तरदायित्व स्त्री पर भी है क्योंकि उसे जीने की कला नहीं आती केवल युगयुगान्तर से चले आने वाले सिद्धान्तों का भार लेकर वह स्वयं ही अपने लिए भार हो उठी है।

मनुष्यता से ऊपर की स्थिति को अपना लक्ष्य बनाने से प्रायः मनुष्य देवता की पाषाण प्रतिमा बनकर रह जाता है और इसके विपरीत मनुष्यता से नीचे उतरना पशु की श्रेणी में आ जाना है। एक स्थिति मनुष्य से ऊपर होने पर भी निष्क्रिय है, दूसरी इससे नीची होने के कारण मनुष्यता का कलंक है। अतः दोनों ही स्थितियों में मनुष्य का पूर्ण विकास संभव नहीं। हमारे समाज में अपने स्वार्थ के कारण पुरुष मनुष्यता का कलंक है और स्त्री अपनी अज्ञानमय निस्पन्द सहिष्णुता के कारण पाषाण सी उपेक्षणीय— दोनों के मनुष्यत्व-युक्त मनुष्य हो जाने से ही जीवन की कला विकास पा

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmar

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

सकेगी जिसका ध्येय मनुष्य की सहानुभूति, सक्रियता, स्नेह आदि गुणों को अधिक व्यापक बना देना है।

जीवन को विकृत न बनाकर उसे सुन्दर और उपयोगी रूप देने के इच्छुक को अपने सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखनेवाली अन्तर्मुखी तथा उन सिद्धान्तों के सक्रिय रूप से सम्बन्ध रखनेवाली बहिर्मुखी शक्तियों को पूर्ण विकास की सुविधाएँ देनी ही पड़ेंगी। वही वृक्ष पृथ्वीतल पर बिना अवलम्ब के अकेले खड़ा रह कर झंझा के प्रहारों को मलय समीर के झोंकों के समान सहकर भी हरा-भरा फल-फूल से युक्त रह सकेगा, जिसकी मूलस्थित शक्तियाँ विकसित और सबल हैं और उसी की मूलस्थिति दृढ़ रह सकती है जो धरातल में बाहर स्वच्छन्द वातावरण में सांस लेता है। जब बहिर्मुखी शक्तियाँ भी अतर्मुखी हो जाती हैं तब बाह्य सक्रियता नष्ट हुए बिना नहीं रहती। आज चाहे हमारी आध्यात्मिकता भीतर ही भीतर पाताल तक फैल गई हो परन्तु जीवन का व्यावहारिक रूप विकृत सा होता जा रहा है। जीवन का चिह्न केवल काल्पनिक स्वर्ग में विचरण नहीं है किंतु संसार के कंटकाकीर्ण पथ को प्रशस्त बनाना भी है जब तक बाह्य तथा आंतरिक विकास सापेक्ष नहीं बनते हम जीना नहीं जान सकते।

260
570

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathman

Public Domain. Digitization by eGangotri.Fundi

l Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathm

n Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding

pal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathma

. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding:

epal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmand